

प्रेम-मन्दिर के प्रसिद्ध प्रेमी पुजारी

स्वर्गीय कुमार देवेन्द्रप्रसाद

की

प्रेमामृतमयी पवित्रात्मा

की

वृत्ति और शान्ति

के लिये

उन्हीं की स्मृति-रत्ना की सदिच्छा से

तृतीय बार

उन्हीं के एक प्रिय मित्र द्वारा

संशोधित, सन्वदित एवं सुसम्पादित

तया

उन्हीं के एक स्नेह-भाजन धर्मबन्धु द्वारा

प्रेम-पूर्वक प्रकाशित ।



(२५) विकसित कुसुम	४९
(२६) प्रेम	५२
(२७) प्रेम का अद्भुत व्यवहार	५३
(२८) प्रेम	५४
(२९) प्रेम की अद्भुत होरी	५९
(३०) प्यारे कमल	६०
(३१) प्रेमानाथ	६२
(३२) प्रेम	६४
(३३) प्रेममय मिलन	६६
(३४) प्रेमसन्ध	६७
(३५) प्रेम	६८
(३६) प्रेममन्त्र	७२
(३७) प्रेम	७५
(३८) प्रेम-मर्यादा	७६
(३९) प्रेम	८३
(४०) प्रेम व्याजा	८४
(४१) प्रेम-बन्धन	८५
(४२) प्रेम	८९
(४३) विदाइ	९४
(४४) प्रेम-पुष्पाञ्जलि	९५
(४५) प्रेम का निगलना दग और विष्ट प्रेममय	९६
(४६) प्रेममन्त्र और प्रेम की शक्ति	९७
४७. प्रेम वाग्वत	९८
४८. प्रेम का शक्ति	९९

निकल चुकी है। तद्वत् भद्वत् का खमाना है सही, किन्तु बाल्य में पुस्तक की बाहरी चमक-रमक को उतना महत्व नहीं दिया जाना चाहिये जितना उसके अन्तःपट की रमणीयता को देना उचित है। तो भी, मैंने पुस्तक को स्वच्छ और सुमज्जिन बनाने में कोई त्रुटि नहीं रहने दी है। उ्यों उ्यों मेरी जानकारी और मेरी अनुभव-शीलता बढ़ेगी त्यों त्यों मैं नया रंग और निराला ढंग पैदा करने की चेष्टा में प्रवृत्त होता जाऊँगा। यह मेरी पहली भेंट यदि सहृदय प्रेमियों ने स्वीकृत कर ली तो अधिकतर उत्साहित हो कर मैं उनकी सेवा में शीघ्र ही कोई नया उपहार ले कर उपस्थित होऊँगा।

यद्यपि इस बार इस पुस्तक का बाहरी अंग पहले के ऐसा मनो-मुग्धकर नहीं है तथापि इसका अन्तरङ्ग अत्यन्त रुचिरता-रत्नित है। इसके सम्पादक और आदि-समूहकर्त्ता हिन्दीभूषण बाबू शिवपूजन महाय जी (सम्पादक, मारवाड़ी-मुधार, आरा) ने इसे पुनः सुसम्पादित करके मुझे ओ कृतज्ञ बनाया है उसके लिसे मैं उनको धन्यवाद देता हूँ। आशा है, उनकी कृपा से, आगे चल कर, कुछ ही दिनों में, मैं कई उपदेश-प्रद एवं चित्तवसादक पुस्तकें प्रकाशित कर सकूँगा जिनमें पाठकों का यथेष्ट मनोविनोद होगा।

मैं प्रेमी पाठकों को यह विराम दिलाता हूँ कि मैं बीर-मंदिर द्वारा प्रथ-प्रकारान का कार्त्तव्य नियमित रूप से करूँगा। विशेषतः ललित, चित्तचोर और दिज्ञचर्य किताबें हो प्रकाशित करना अभीष्ट है जिन में शुद्धता के साथ ऐसे ऐसे भाव सङ्कलित या सञ्चित किये गये रहेंगे कि पाठक बरबरा पढ़क बैठें और देखने हो उनका

[ग]

चित्त धनतृप्त और चकित हो जाय। विशुद्ध भावमय साहित्य का प्रचार ही प्रधान लक्ष्य है। विश्वास है, प्रभुवर मेरी सहायता करेंगे।

यह पुस्तक अपने आदि-प्रकाशक की स्मृति-रक्षा के निमित्त, हिन्दी-संसार में, तीसरी बार, विशेष सरस सामग्री के साथ, पदार्पण कर रही है। आशा है, इसका समुचित स्वागत होगा और जिसका स्मारक यह बनना चाहती है उसकी स्वर्गस्थ अन्तरात्मा सन्तुष्ट हो कर इसे आशीर्वाद देगी।

वीर-मंदिर, आरा,
वसंतपंचमी १९७८. }

प्रेमियों का वशम्बद—
अनन्तकुमार जैन



सम्पादक का निवेदन ।

"I can not do much", said a little star,
"To make the dark world bright !

My silvery beams can not struggle far
Through the folding gloom of night !

But I'm only part of God's great plan,
And I'll cheerfully do the best I can !"

मित्रवर कुमार देवेन्द्र प्रसाद इस पुस्तक के आदि-प्रकाशक थे । आज उनका पार्थिव शरीर इस धरा-धाम में नहीं है । किन्तु उनकी स्वर्गीय आत्मा इस पुस्तक के प्रेमपरास्फुरण पर विभ्राम कर रही है ।

छ-मात साल की बीती बात है । एक दिन मैं अपनी नाट-बुक में ब्रजभाषा की कुछ कविताएँ उतार रहा था । वे अकस्मान् पहुँच गये । प्रसंगवश उन्होंने कविताओं का सुनने के लिये कमुकता प्रकट की । मैं सुनाने लगा । वे प्रेम की मस्ती में भूमने लगे । उन्होंने ब्रजभाषा-साहित्य का अध्ययन करने की इच्छा भी प्रकट की । वे हिमो रमीले मंथ का पना पूछने लगे । मैं उस समय की अपनी जानकारी के अनुसार "रसकुसुमाकर" का नाम बतलाया और पाम उसकी एक हस्तलिखित प्रति थी । वह बड़ी सुन्दर थी । वे उसे उठा ले गये । नहीं, मुझे भी पकड़ कर अपने साथ ले

गये। प्रीत्य का दृष्ट मन्थाह था। मैं उन को सुमञ्जित कोठरी में पैठ कर उन्हें काव्यानन्द का रमान्यादन करा रहा था। उत्तम मन्थाल की प्रचलना भी इन विचित्र चित्र-कुट्टी की कुञ्ज-भागा में आकर शीतल शरद्विद्या बन जाती थी। पात ही पात में, मैंने इनसे "मर्यादा" के एक अंग में प्रकाशित प्रिय-प्रधान-प्रयुक्त कविवर "हरिऔध जी" की "श्रीर के आँसू" शीर्षक कविता के भाव-गान्भीर्य की भूरि प्रशंसा की। सुनने भर की देर थी। उन्हें बदेग ही गया। उनकी तीव्र चकलठा शान्त करने के लिये शाम को मैं आरा नागरी-प्रचारिणी सभा में "मर्यादा" की वह संख्या ले गया। जिस सहनता के माथ उन्होंने दो दो बार पढ़वा कर कविता सुनी वह आज भी मेरी आँखों में नाच रही है। जिनसे उन्हें कभी प्रेम-निमग्न होते समय देखा होगा वही कल्पना पर मक्ता है कि इनमें प्रेम की कैसी जबरदस्त विजली भरी हुई थी। अन्ततोगत्वा उन्होंने उस कविता को अलग पुस्तिका-रूप में प्रकाशित कराने की अभिलाषा प्रदर्शित की। और, सुन्द से यह भी कहा कि "आँसू" पर जितनी कविताएँ मिल सके उन्हें आप हँद लाइये। मैं आरा नागरी-प्रचारिणी सभा में जाकर सरस्वती की काइल हँद कर, अवकाशाभाव के कारण, निकर दो ही पद्य, चौथे-पाँचवें दिन, उनके पान लेकर गया—एक हरिऔध जी लिखित "दुखिया के आँसू" और दूसरा यायू मैथिली शरण गुप्त रचित "आँसू"। शायद ये दोनों पद्य किसी एक ही साल की भिन्न भिन्न संख्याओं में निकले थे। हरिऔध जी की "आँसू का

बोम्बे" कविता अथवा वमन हो ही चुकी थी, मैथिली शरण जी को अनुरोध रचना मुनकर जनका प्रेमार्द्र पित्त बोमों उदक पड़ा। फिर रमा था, फड़कती हुई और रस गुरुगुहानी हुई कविताओं का एक संमह प्रकाशन करना निश्चिन्ना हो गया। क्योंकि कभी समय मारम्यता की एक नई संख्या में वमने माननीय सम्पादक का यह उस्ताद-वर्द्धक बारन नगर के नोपे पड़ गया कि "प्रेमी प्रेमी कविताओं का निकलना हिन्दी के सौभाग्य का सूचक है। इस प्रकार की कविताओं के संमह का मूख प्रचार होना चाहिये"। यह वाक्य अश्वेय द्विवेदी जी ने "राष्ट्रीय बीणा" के विषय में लिखा था। गन सम्करणों के अपने "प्रेमानुनय" में देवेन्द्र प्रसाद एक वाक्य का अवलोकन कर चुके हैं। बनारस के मेन्टल हिन्दू कॉलेज में पढ़ते समय उन्होंने ता० २५-८-१२ को एक "विश्व-प्रेम-संघ" स्थापित किया था। वसी "Love Fraternity" का स्मारक-स्वरूप उन्होंने यह पुस्तक प्रकाशन करना स्थिर किया। किन्तु यह कौन जानता था कि तीसरी बार यह प्रेम-संमह कहीं का स्मारक बनेगा।

और, विचार ही स्थिर होकर नहीं रह गया। आरा के प्रसिद्ध दानवीर रईस भीमान बाबू देवकुमार जी जैन द्वारा संस्थापित "जैनसिद्धान्त भवन" के अपूर्व मंथ-संमहजय से अच्छी अच्छी मासिक पत्रिकाओं की काइलें एकत्र हुईं। मैं प्रेमपूर्ण पत्रों को ढूँढ़ने लगा। ढूँढ़े हुए पत्रों में से चुन चुन कर कुछ पद्य इस पुस्तक के लिये लिखे गये। पुस्तक तैयार होते ही वे उसे लेकर प्रयाग

घटे गये। उस समय ही उनकी यह बात मुझे आज भी याद है कि "दिल्ली की मशीन होती तो रात भर में इसे छपवा देता"। हम, इसी वाक्य से उनकी पुस्तक-प्रकाशनोत्कण्ठा का पता लगा लीजिये कि उसका पारा कितना खड़ा हुआ था।

पुस्तक बहुत देर से लगी परन्तु "देव आनन्द दुग्गल आनन्द" के अनुसार ऐसी न्यायमय के साथ लगी कि उन्हें क्याइयाँ लेते लेते डूब जाना पड़ा। दूसरे सम्स्करण को वे बना लूँगे के साथ नहीं लगा सके, क्योंकि इण्डियन प्रेस (प्रकाश) ने उनकी आप्रह्व स्वीकार नहीं किया। दूसरा सम्स्करण विशेष सुसज्जित रूप में वे निकालना चाहते थे, पर पहचाने ही रह गये। यहाँ इस पुस्तक का आत्म-कथा है : कौन जानता था कि तीसरा सम्स्करण भी उनके बाद पूरा न कर सकेंगे। नाममात्र स्मृति के प्रकाशक के भा' इस बात का पहचाना है कि द्वितीय सम्स्करण को अपेक्षा इससे इस बार अधिक सुन्दर रंग-रूप देने का अनुरोध, कुछ अनिवार्य कारणों से, पूरा न हो सका। यह भा' किसे मालूम था कि जो पुस्तक 'मौलाना-राय' बन कर खबरे में गई थी वह कमाल रूप-मान है जायगी।

स्मरण है कि यह उस 'दिन' का था जिस दिन इस जगत् से बड़े कर-दार करने वाले चले गये। अपने घर-परिवार के विचारों में यह कब- इसका वर-नृप में मूर्तत्व के गया था आश्चर्य है क्या। शायद कि मौलाना नहीं है, बाह्य परिवार नहीं है 'कन्तु इस विद्यावान् का मानसिक मौलिक पहलू से बहुत बड़ा

किन्तु इस दलभंगुर संसार में क्या कुछ भी स्थिर रह सकता है ?
न रहा है ! न रहेगा ! यदि हिन्दी-साहित्य-संसार में संग्रह के
“सुभाषितरत्नमालागार” ही की तरह का कोई अच्छा संग्रह-ग्रंथ
किन्ना कर्मवीर और दानवीर की कृपा से प्रकाशित हो जाय तो
हिन्दी का पड़ा भारी उपहार हो । मैं उपर्युक्त संग्रह-ग्रंथों की
प्रशंसा इस लिये नहीं कर जाया हूँ कि उन्हीं की श्रेणी में अपने
इस छोटे प्रेम-संग्रह की भी गणना कराना चाहता हूँ बल्कि इन
लिये कि अच्छे अच्छे दृष्टन् संग्रह-ग्रंथ प्रकाशित करने की ओर
सुयोग्य पुरुषों का ध्यान आकर्षित करूँ । यह चुटकला संग्रह तो
दो चार पड़ों की दिलचस्पी के लिये है । पूर्वोक्त संग्रहों से इन
की तुलना हो कैसी ? उनके आगे इसका महत्व हो क्या है ?

अब इस पुस्तक के सम्बन्ध में मुझे इतना ही कहना है कि
इसका सम्पादन करते हुए मैंने इसके आदि-प्रकाशक मित्रवर
शुमार देवेन्द्र प्रसाद के भावों की कहीं हत्या नहीं की है । जहाँ
कहीं मैंने काट-छाँट की है वहाँ उनके मुख्य भावों की रक्षा का
पूरा ध्यान रखते हुए अनावश्यक मान्दों अलग कर के उपयोगों
और रुचिकर सामग्री बहुलतासे सन्मिलित कर दी गयी है । जहाँ
तक उपर्युक्त उपकरण उपलब्ध हो सका, संज्ञा में उपस्थित करता
हूँ । यदि सहर्ष स्वाकार कीजियेगा तो आगे सात चौथी आवृत्ति
इससे भी सुन्दर तीजियेगा ।

अन्त में, जिन माननीय कवियों की कवितारें इस पुस्तक की
शोभा की अंगपूर्ति के लिये संग्रहीत हुई हैं उन्हें कोटिशः धन्यवाद



(कविवर बाबू मैथिलीशरण गुप्त)

(१)

अन्तर्यामी अखिलेश चराचर-चारी !
जय निर्गुण, सगुण, अनादि, आदि, अविकारों ।
पाता है कोई पार न नाथ ! तुम्हारा ,
चलता है यह संसार तुम्हीं से सारा ॥

(२)

पाकर है विश्वाधार ! तुम्हारा ही धल ,
है निश्चल यह आकाश और यह भूतल ।
बहता है नित जल-वायु, अनल जलता है,
द्रुम-गुल्म-लता-दल फूल फूल फलता है ॥

(३)

हे ईश ! तुम्हीं से रवि प्रकाश पाता है ,
कृश हुआ जलाघर फिर विकास पाता है ।
हैं तारे करुणा-विन्दु तुम्हारे प्यारे ,
न्यारे न्यारे हैं खेल तुम्हारे सारे ॥

(४)

हम जब तक अपना जन्म धरा पर धारें ,
हो जाती हैं उत्पन्न दूध की धारें ।

यह वह मिट्टी की ढली है कि न इससे घात करे ।
संक्षिप्ता खाकर मरे पर इश्क खर्चों पर न धरे ॥

लो !

तुम्हारी बला

“तुम्हीं” को

इश्क शै बो है कि पत्थर को दम में आष करे ।
लगाये दिल वहाँ जिसे खुदा छराव करे ॥

प्रेम-पारावार परमेश्वर !

(कविवर पं० रुपनरायण पाण्डेय)

जय प्रभु प्रेम-सागर ।

मिटत सौंनिह ताप सेवत, छुटत दिष्य दिखार ॥

रहत तुम मछे मगन योगो, बहत खुनि पौ मार ।

लहत मल्लानन्द निरमल, बहत हग जल-धार ॥

गर्व करि शान्ति मये थकि, नहि पायो पार ।

होत जा पै लहर सोइ, तरि जात यह संसार ॥१॥

(बरिष्ठा-शैकुंरी)

प्रेम-भिक्षा !

(श्रीमान् मनोरंजनमसाद सिंह)

हे प्रभो !

जय देवताओं ने तुम्हारे भेद को पाया नहीं ।

गोज करते थक गये पर धृति में आया नहीं ।

तब शक्ति मुझ में है वहाँ जो भेद तेरा पा सकूँ ।

है वेद में ताकत नहीं, मैं गुण तेरा क्यों गा सकूँ ?

• • •

धन की नहीं है चाह कुछ, यश की वहाँ पर्वाह है ।

इस क्षुद्र जीवन का तुम्हारे हाथ में निर्वाह है ॥

इस दीन बालक के विनय पर हे प्रभो तुम कान दो ।

सब का करो कल्याण, मुझ को प्रेम का तुम दान दो ॥

प्रेम-पारावार परमेश्वर !

(कविवर पं० रूपनारायण पाण्डेय)

जय प्रभु प्रेम-पारावार ।

मिटत सीनिहू ताप सेवत, हुटत निषय दिहार ॥

रहत तुन मरै मगन योगी, पढ़ते मुनि पौ मार ।

लहत मग्नानन्द निरमल, बहत हग जल-धार ॥

गर्ब करि शानी गये यकि, नहि पायो पार ।

होत जा पै लहर सोइ, तरि जात यह संसार ॥१॥

(कविता-भैरवी)

प्रेम-भिन्ना !

(श्रीमान् मनोरंजनप्रसाद सिंह)

हे प्रभो !

जय देवताओं ने तुम्हारे भेद को पाया नहीं ।

खोज करते यक गये पर बुद्धि में आया नहीं ।

तब शक्ति तुम्ह में है क्यों जो भेद तेरा पा सकूँ ।

है वेद में ताकत नहीं, मैं गुण तेरा क्यों गा सकूँ ?

* * *

धन की नहीं है चाह कुछ, यश की वहीं परवाह है ।

इस क्षुद्र जीवन का तुम्हारे हाथ में निर्वाह है ॥

इस दीन बालक के विनय पर हे प्रभो तुन कान दो ।

मय का करो कल्याण, तुम्हें को प्रेम का तुम दान दो ॥

“प्रेमानुनय”*

“लोजिये दिल मोल कर यह प्रेम का उपहार है ।
 विश्वसेवा कीजिये यह प्रेम का सत्कार है ॥
 प्रेममय हो जाइये गुण गाइये धन प्रेम का ।
 प्रेम-नेम निपाटिये साधन यही है प्रेम का ॥”

—रंगेन्द्र ।

प्रेम के माधुर्य की वृद्धि या उपलब्धि तभी हो सकती है जब इसका अनर्गल एवं अविरल रूप में सर्वदा सर्वत्र प्रसार होता रहे, प्रेम-संसार के शरीरियों का यह कर्त्तव्य भी है कि प्रेम का सन्धय न करें बल्कि उदारतापूर्वक इसका सुधा-फलश विश्व-पादिका की एक एक कुमुद-क्यारी में डालते फिरें । प्रेम की धारा जिस घराबगट पर बहती है वह न स्वर्ग का सा है—न अमरावती का सा है—न अलकापुरी का सा है और न लंका के दुर्गम दुर्ग का सा है—इसमें कुछ और ही विलक्षणता है—यह इन सबों से भी निपट निराला है—वहाँ न धन का निठाला है और न पाप का मसाला है—केवल सुशान्ति का षोल वाला है ।

यह ‘प्रेमस्तयक’ यदि सुरमियों के मन भाया—सुदृषि की वृद्धि कर सका, स्नेह-साधना सदन में सिद्धि भर सका तो उत्साहित

* यह “प्रेमानुनय” प्रेम-पुष्पाञ्जलि के प्रथम संस्करण में “प्रेम-मंदिर के घेरी पुजारी” द्वारा लिखा गया था । इसका कुछ अंश इस तीसरे संस्करण में छोड़ दिया गया है । केवल महत्वपूर्ण एवं आवश्यक अंश संकलित है ।

—सम्पादक ।



“प्रेम-तत्त्व”

(साहित्यरत्न पं० अयोध्यासिंहजी व्याख्या)

हो के उत्कल प्रिय-मुख की मूपसी-लालसा से ।
 जो वृत्ति है हृदय-मल की धूल-उत्तर्ग-शीला ।
 पुरपाक-दा घरन-रुचि का कोर-स-लिप्ता बिना हो ।
 झटाझो ने प्रलय-प्रमिषा दान की है इसी को ॥



आ सकता है अनित नलिनी एक-धायन-दी में ।
 प्रेमोन्मत्ता विनत-विधु की हैं सहली चकोर ।
 जो दाता हैं विदुत हरि ने रत वैचित्र्य क्या है ?
 प्रेमी का ही हृदय गरिमा जानता प्रेम की है ।



पाई जाती जगत् जिवनी वस्तु है जो सदा में ।
 मैं प्यारे को दिविष-रंग और रूप में देखती हूँ ।
 तो मैं कैसे न इन सब को प्यार की से कहूँगी ।
 यों है मेरे हृदय-मल में विष का प्रेम जागा ॥

होकर ऐसे ऐसे 'परिजात खवक' रचने में विरोध रूप से 'दिन-दिमाग-दीनार' को दफन किया जायगा ।*

'संप्रह'—इस शब्द में अप्रतिम शक्ति है । भली चीजें विचारिये । इंग्लैण्ड तथा अमेरिका इत्यादि सभ्य तथा उन्नत देशों में 'संप्रह' शब्द का अलौकिक अर्थ सभी लोग अच्छी तरह समझते हैं । यही कारण है कि अंग्रेजी साहित्य ऐसे महत्व का है गया कि "गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः"—वह अनुभूति भी परिचित है ।

अन्धेरे की चीजें आलोक में चली आवें, सब देश की सरिताएँ मिल कर एक मागर बमड़ायें, सब झुट्ट झर झर मिल कर एक शृङ्खला बंध गइ हलें, यही सुगंधकर, यही सुसंस्कार, यही हविष और यही अमीश्वर ।

इस प्रेमपुष्पाञ्जलि 'महोत्सव' में 'योग' देने वाले—इस प्रेम-पर्यटारोहण में 'करावलम्बन' देने वाले—प्रेमी सम्पादकों और प्रेमी कवियों को प्रेमप्लुत पावन हृदय के अन्तरतम प्रेमाश्रय माधुवाद है—प्रेमाश्रयवाद है ।

"अनेकत्व होगा न एकत्व तेरा । न एकत्व होगा अनेकत्व मेरा । न त्यागे तुम्हें शक्ति सर्वज्ञता की । लगो है मुझे व्यापि अल्पज्ञता की ।

दुई का घटाटाँप घेरा रहेगा ।

मिटेगा नहीं मेल मेरा रहेगा ।।"—"राकुर"

—रोन्द

* अन्तोन । दिन-दिमाग—दीनार को दफन करने वाले दिन-दिमाग रोम्बों का दिन-दर-दुगुना कर के दुनिया में दर-दिनार हुए ।।



“प्रेम-तत्त्व”

(साहित्यरत्न पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय)

हो के उत्कण्ठ प्रिय-सुख की भूयसी-लालसा से ।
जो वृत्ती है हृदय-तल को आत्म-उत्सर्ग-शीला ।
पुण्याकांक्षा धरम-रुचि वा कीर्त्ति-लिप्ता बिना ही ।
ज्ञाताओं ने प्रणय-अभिधा दान की है उसी को ॥



आ सकता है अमित नलिनी एक-ध्याया-पती में ।
प्रेमोन्मत्ता विमल-विधु की हैं सहस्रों चकोरी ।
जो वाला हैं विपुल हरि में रक्त वैचित्र्य क्या है ?
प्रेमी का ही हृदय गरिमा जानता प्रेम का है ।



पाई जाती जगत जितनी वस्तु है जो सयों में ।
मैं प्यारे को विविध-रंग और रूप में देखती हूँ ।
तो मैं कैसे न उन सब को प्यार जी से करूँगी ।
यों है मेरे हृदय-तल में विश्व का प्रेम जागा ॥

ताराओं में तिमिर-हर में बहि में औ शशी में ।
पाई जाती परम-रुचिरा-व्योतियों हैं बसी की ।
पृथ्वी पानी पवन नभ में पादपों में खगों में ।
देखी जाती प्रथित प्रमुता बिम्ब में व्याप्त की है ॥



प्यारी-सच्चा जगत-गत की निर्य-लीला-मयी है ।
मैंहीं-सिखा परम-मधुरा वृत्ता में पगी है ।
कैसी-म्यारी-सरल-मरमा ज्ञानगर्भा मनोहा ।
पूण्या मान्या हरष-तल की रंजिता वज्रला है ॥



प्यारे भावें मृदु-वयन कहें प्यार से अंक लेवें ।
ठगटे होवें नयन-दुख हो दूर में मोद पाऊँ ।
ए सी है भाव दिय-जल के और ए-भाव भी हैं ।
प्यारे जावें जगत-दित करें गेह चाहें न भावें ॥



“पानी है बिम्ब प्रियतम में
विरय में प्राण प्यारा ।
एसे मैंने ‘जगत-रति कां
‘रवाम’ में है वितोका” ॥

(प्रद्युम्नी राधा)
(दिव्यनाभ)

विश्व-प्रेम

“सीमा-रहित-अनन्त-गगन सा
विस्तृत उसका ‘प्रेम’ हुआ ।
‘भौरों का कल्याण-कार्य ही’
उसका अपना ‘प्रेम’ हुआ ॥



हिंसक पशु भी उसे देख कर
पैरों में पड़ जाते थे,
मुँह में हाथ डब कर घीरे
‘सींटी थपकी’ पाते थे !”



“रमती थी ‘प्रेमाद्रि’ सभी को
वह अपने व्यवहारों से,
पशु-पक्षी भी मुग्ध पाते थे
उमकें गुहाधारों में ॥”

(राकुन्तला)
—वैश्विनीगरण

"हो दुलसि, मरि !

कतुमय मोर !

मोर निरंति कतुमय मरिनिवे

निम निम नूतन होय ॥

—निमनि

न यह मन्दिर न यह मत्तविद न है यह आनन्दन ।
विगदगुह मरिनिवे कतुमय का सतनन ॥

मरिनिवे निरंति हो कतुमय तरु कतुमय शर देखे ।
गिरा है मरिनिवे के विगदगुह का घर देखे ॥
अवध है मरिनिवे कतुमय का नुद कतुमय देखे ।
मरिनिवे कतुमय कतुमय के कतुमय मरिनिवे देखे ॥

—मरिनिवे

"मरिनिवे के दले निरंति मरिनिवे
होसिने होसिने निरंति कतुमय,
होसिने कतुमय मरिनिवे ॥

होसिने—होसिने

मन में प्रेम का उद्भव न होने की अपेक्षा प्रेम करके जलना
पात्र होना भला ।

—साहेब निराला ।



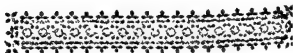
प्रेम एक बिजली की तरह है और प्रत्येक प्राणी के हृदय-
काश में यह प्रेम की बिजली रह रह कर नाच बठती है । वह
प्रेम की बिजली की लहर अपने समान हृदय पात्र को पले ही
उमक गम्भीर हृदय में घुम जाती है । जिस प्रकार घुम्बड़ पाताल
और लाडा पकड़ होने पर मिल जाते हैं वही प्रकार समान-समान
भावों वाले हृदयों में बिना प्रयास ही निःस्वार्थ प्रेम का विकास
हो जाता है ।

—देव ।



“दुर्गे नमः शिवाय
श्रवणं ध्यानेन च ।
यत्र दुर्गदर्शनं
स ह्येव इति कथ्यते ॥”

—मुनिराज



भक्त की अभिलाषा ।

तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा खुद हूँ
 तू है महासागर अगम मैं एक धारा खुद हूँ ।
 तू है महानद तुल्य तो मैं एक बूँद समान हूँ
 तू है मनोहर गीत तो मैं एक वसकी तान हूँ ॥



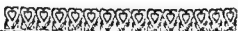
तू है सुखद ऋतुराज तो मैं एक छोटा फूल हूँ
 तू है अगार दक्षिण-पवन तो कुसुम की मैं धूल हूँ ।
 तू है सरोवर अमल तो मैं एक वसका मीन हूँ
 तू है पिता तो पुत्र मैं तब अङ्ग में आमीन हूँ ॥



तू अगार सर्वाधार है तो मैं एक आधेय हूँ
 आश्रय मुझे है एक तेरा, श्रेय या अश्रेय हूँ ।
 तू है अगार सर्वेश तो मैं एक तेरा दास हूँ
 तुझको नहीं मैं भूलता हूँ, दूर हूँ या पास हूँ ॥



तू है पतिव्रतन प्रकट तो मैं पतिन मरादूर हूँ
 छल से तुझे यदि है घृणा तो मैं कपट से दूर हूँ ।
 हे भक्ति की यदि भूख तुझको तो मुझे तब भक्ति है
 अति प्रीति है तेरे पदों में, प्रेम है, आसक्ति है ॥



कभी कुद्य और कभी कुद्य ।

(श्रीमान् कवि गोपालशरणसिंह जी)

बराबर एक पथ पर तुम नहीं चलते नदर आते ।
 कभी इस ओर हो जाते कभी उस ओर हो जाते ॥
 कभी तो तुम हमें निज छवि-सुधा सन्तत पिलाते हो ।
 कभी फिर दर्शनों के हित हमें दिन रात तरमाते ॥१॥



कभी तो रुठ जाने पर हमें बहुविध मनाते हो ।
 कभी फिर बोलने की भी कृपा हम पर न दिखलाते ॥
 कभी आकर स्वयं हममें विनययुल याचना करते ।
 कभी मम प्रार्थना को भी न तुम हो चित्त में लाते ॥२॥



कभी बन कर सुधाकर तुम सुधाधारा बहाते हो ।
 कभी विष-वारि-मूँदों को निरन्तर सूख टपकाते ॥
 कभी अलि बन स्वयं पंकज-कली हमको समझते हो ।
 कभी फिर मान कर चम्पा हमारे दिग नहीं आते ॥३॥

पूछते हों तो कहो मैं क्या कहूँ
 वो किसी का है निराशा का गया ?
 दर्द मे मेरे कलेजे का सह
 देखा है आज वाली बन गया ॥

स्वामि धी इम जोग को तिमकी बनी
 यह नहीं इमको सदा कोई मिला ।
 स्वामि तिमसे हो गई है सौगुनी
 बाद ! क्या अच्छा इमे पानी मिला ? ॥

गया हों कैसा निराशा यह मिगल
 भेद सारा जोग क्यों तुमने दिया
 वो किसी का है नहीं सोते भरम
 आमुषो ! तुमने कहा यह क्या किया ? ॥

मोंकना फिरता है कोई क्यों कुंआ
 है फैसे इम रोग में छोटे बड़े
 है इमो दिल से तो यह पैदा हुआ
 क्यों न आमु का अमर दिल पर पड़े ? ॥

बाल अपनी ही सुनाते है सभी
 पर छिपाये भेद छिपना है कहीं

कया हुआ अंधेर लगा है कदी
 सब गया कुछ भी नहीं अब रह गया
 हूँ तो है पर हों भिगना मदी
 "अंगुष्ठों में दिन हमारा बढ़ गया" ॥

क्यों नदी अब और भी रो रो मों
 सब तक उनको अंधेरा रह गया
 क्या बिचारी हूँ बनी अन्धे करे
 "जित तो था ही अंगुष्ठों में बढ़ गया" ॥

पास हो क्यों कान के जाने चले
 किस जिय प्यारे कपोलों पर चढ़े
 क्यों मुद्दारे सामने रह कर जले
 "अंगुष्ठों आकर कजेजे पर पड़े" ॥

जोख का आँसू बनी मूँ पर गिरी
 धूलि पर आकर बही बह खो गई
 "बाद भी जितनी कजेजे में भरी
 देखता हूँ आज मिट्टी हो गई" ॥

दिल से निकले अब कपोलों पर चढ़े
 बात बिगड़ी क्या भला बन जायगी

ऐ ! हमारे आँसुओं !! आगे बढ़ो
आप की गर्मी न यह रह जायगी ॥

ॐ
“वृंद गिरते देख कर यों मन कहो
आँख तेरी गढ़ गई या लड़ गई
जो समझते हो नहीं तो चुप रहो
कंकरी इस आँख में है पड़ गई” ॥

ॐ
देख करके और का होते भला
आँख जो धिनु आग ही यों जल मरे
दूर से आँसू समझ कर तो चला
पर उसे कैसे भला ठण्डा करे ॥

ॐ
पाप करते हैं न डरते हैं कभी
छोट इस दिल से कभी खाई नहीं
मोच कर अपनी दुरी करनी सभी
यह हमारी आँख भर आई नहीं ॥

ॐ
है हमारे आँखों की भी न हद
हाय ! गरदन भी छूँ नहीं किरती नहीं
देख कर के दूसरों का दुख दरद
आँख से दो वृंद भाँ गिरती नहीं ॥

क्या हुआ अंधेर ऐसा है बड़ी
 सब मर चुक भी नहीं अब रह गया
 दुँदने है पर हमें भिगना नहीं
 "सौमुषों में दिन हमारा बह गया" ॥

क्यों नहीं अब और भी रो रो सों
 सब तरफ़ इनको ओपेग रह गया
 क्या बिचारी दुबली अग्नि करे
 "जिज तो या हो सौमुषों में बह गया" ॥

पाव हो क्यों कान के जाले जले
 किस लिए प्यारे कपड़ों पर अफ़ों
 क्यों तुम्हारे सामने रह कर जले
 "सौमुषों का कर कंजरे पर पड़ो" ॥

भोल का भोलू बनी मूँ पर गिरी
 धूलि पर आकर बड़ी बड़खो गई
 "बाहू थी जितनी कंजरे में भरी
 देखता हूँ आज मिट्टी हो गई" ॥

दिन से निकले अब कपड़ों पर चढ़ो
 जाल बिगड़ी क्या भला बन आयगा

ऐ ! हमारे आँसुओं !! आगे बढ़ो
आप की गरमी न यह रह जायगी ॥

ॐ
"बूंद गिरते देख कर यों मत कहो
आँख तेरी गड़ गई या लड़ गई
जो समझते हो नहीं तो चुप रहो
कंकरी इस आँख में है पड़ गई" ॥

ॐ
देख करके और फा होते भला
आँख जो बिनु आग हो यों जल भरे
दूर से आँसू छमड़ कर तो चला
पर उसे कैसे भला ठण्डा करे ॥

ॐ
पाप करते हैं न डरते हैं कभी
चोट इस दिल से कभी खाई नहीं
मोच कर अपनी चुरी करनी सभी
यह हमारी आँख भर आई नहीं ॥

ॐ
है हमारे आँसुओं की भी न हद
हाय ! गरदन भी छधर फिरती नहीं
देख कर के दूसरों का दुख दरद
आँख से दो बूंद भाँ गिरती नहीं ॥

कथा हुआ अम्भेर मेसा दे करी
 सब कथा कुछ भी नदी अब रह गया
 हूँ तो दे पर हों निगमा नदी
 "सौमुषो मे दिव इमाग बह गया" ॥

कथा नदी अब और भी रो रो गये
 सब ताक उनको अम्भेर रह गया
 कथा बिजगी हुआ अग्नि करे
 "निज तो या हो अग्निषो मे बह गया" ॥

पाछ हो कथा कान के जाने जगे
 किस लिए प्यारे कानों पर अगे
 कथा गुहार सामने रह कर जगे
 "सौमुषो आकर कलेजे पर पड़े" ॥

अस का अमू बनी मू पर गिरी
 धूलि पर आकर बड़ी बह सो गई
 "बाह भी जितनी कलेजे मे भरी
 देवता हूँ आज मिट्टी हो गई" ॥

दिश से निकले अब कपोलो पर चढ़ो
 बात बिगड़ी कथा भला बन जायगा

हे ! हमारे औगुनों ! ! आगे बढ़ो
आप ही गर्मी न जा रह जायगी ॥

ॐ
"चूंद गिरते देख कर यों मन काँटो
आँख तेरी गढ़ गई या लड़ गई
जो समझते हो नहीं तो चुप रहो
पंखरी इस आँख में है पढ़ गई" ॥

ॐ
देख करके और पा होते भला
आँख जो दिनु आग ही यों जल मरे
दूर से आँसू हमड़ कर तो बला
पर उसे कैसे भला ठगडा करे ॥

ॐ
पाप करते हैं न हरते हैं कभी
चोट इस दिल से कभी ग्राई नहीं
मोच कर अपनी चुरी करनी सभी
यह हमारी आँख भर आई नहीं ॥

ॐ
हे हमारे औगुनों को भी न हद
हाय ! गरदन भी छधर फिरती नहीं
देख कर के दूसरों का दुख दरद
आँख से दो चूंद भाँ गिरती नहीं ॥

कया हुआ अंधेरा तेरा है बही
 सब गया कुछ भी नहीं अब रह गया
 होने है पर हमें मिलना नहीं
 "आँसुओं में दिन हमारा बह गया" ॥

क्यों नहीं अब और भी रो रो सों
 सब ताक इनको अंधेरा रह गया
 क्या बिचारी हूँगी आँखें बंदे
 "जित तो या ही आँसुओं में बह गया" ॥

पास हो क्यों कान के जाने बजे
 किम लिए प्यारे कपड़ों पर चढ़ो
 क्यों तुम्हारे सामने रह कर जजे
 "आँसुओं! आकर कजेजे पर पड़ो" ॥

आँस का आँसू बनी मैं पर गिरी
 धूलि पर आकर बही बह खो गई
 "बाद थी जितनी कजेजे में भरी
 देखता हूँ आज मिट्टी हो गई" ॥

दिन से निकले अब कपड़ों पर चढ़ो
 यात बिगड़ी क्या भला बन जायगी

ये ! हमारे आँसुओं !! आगे बढ़ो
आप की गरमी न यह रह जायगी ॥

ॐ
“बूंद गिरते देख कर यों मत कहो
आँख तेरी गड़ गई या लड़ गई
जो समझते हो नहीं तो चुप रहो
कंकरी इस आँख में है पड़ गई” ॥

ॐ
देख करके और का होते भला
आँख जो बिनु आग हो यों जल मरे
दूर से आँसू छमड़ कर तो चला
पर उसे कैसे भला ठण्डा करे ॥

ॐ
पाप करते हैं न डरते हैं कभी
छोट इस दिल से कभी खाई नहीं
मोच कर अपनी चुरी करनी सभी
यह हमारी आँख भर आई नहीं ॥

ॐ
है हमारे औगुनों की भी न हद
हाय ! गरदन भी छधर फिरती नहीं
देख कर के दूसरों का दुख दरद
आँख से दो वृंद भी गिरती नहीं ॥



प्रेम-पञ्चदशी ।

प्रेम न याड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट विकाय ।
 राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय ॥१॥
 छिनहिं घटे छिन उतरै, सो तो प्रेम न होय ।
 अघट प्रेम-पिखर यसे, प्रेम कहावै सोय ॥२॥
 प्रेम प्रेम सब कोइ कहै, प्रेम न घीन्है कोय ।
 आठ पहर भीना रहै, प्रेम कहावै सोय ॥३॥
 जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम नाहिं ।
 प्रेम गली अति सोंकरी, तमैं दो न समानहिं ॥४॥
 जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान मसान ।
 जैसे खाल लुहार की, सोंस लेत यिन प्रान ॥५॥
 प्रेम तो ऐसा कौजियो, जैसे चन्द चकोर ।
 घाँच दृष्टि मुई मों गिरै, चितवै बाही ओर ॥६॥
 जहाँ प्रेम तहँ नेम नहिं, तहाँ न बुद्धि व्योहार ।
 प्रेम मगन जब मन भया, कौन गिनै तिथि बार ॥७॥
 प्रेम छिपाया ना छिपै, जा घट पर घट होय ।
 जो पै मुख बोलै नहीं, नैन देव हैं रोय ॥८॥

"कुछ कहें उन नैरा दीपों को सुधी,
प्रकृति-कल्याण-कण कहेंगे हम उन्हें ॥



आम के वं रत्न देखे हैं कभी ?
गाद माले हैं सुमन जिनसे सभी ।
हैं तुम्हारे लोचनों में भी बही,
विश्व के भांडार भर जायें सभी ॥



आति-जल को मीन का मुँह घुल रहा;
और जानक भी सभी पर लुल रहा ।
पर मुझसे एक ही हृद-विन्दु में,
देख सो, सब लोक का मुँह घुल रहा ॥



"समय वह जब प्रसु-यशों तक जायगा,
सुगमगी का रूप लेकर जायगा" ।
एक ही सम विभव हृद-जल-विन्दु में,
सृष्टि होगी, सब-जगति सब जायगा ॥



हृदय का अविच्छेद अर्थों में वही,
गङ्गा-प्रेम कहेंगे हैं नरों ...

यदि न ऐसा कर सके तो कुछ बने,
कुछ नदी, जलिते रागे, पाहे मरी ॥



नष्ट हो जीवन लोभन-रुष्टि में,
दोन बने हो मोहियों की मृष्टि में !
मोगने हैं ईश भी पायक बने,
उन तुम्हारा एक कर-रुष्टि में ॥



'मेव तुम्हारे जो पदना नहीं,
पायों की बात सब कहना नहीं'
और तुम यह भी न कहना जानने में—
यह क्या सब हाथ ! यह पदना क्यों ॥

(माधवी)



यदि न ऐन, हर मरे तो हनु दने,
हम नरो, जेते ररो धाहे मरो ॥

ॐ

नष्ट हो जैवत मोखन-मृष्टि में,
दोन दों हो मोखियो हो मृष्टि में !
भोगी हो हो भो दासक दों,
उन तुम्हारी एक करत-दृष्टि में ॥

ॐ

“नेह तुम्हारे तो पाना नहीं,
द्वारे हो पान नष्ट रहना नहीं”
और तुम यह मोन रहना जान नै—
यह नष्ट नष्ट हय ! यह पान दही ॥

(समाप्त)

ॐ ॐ ॐ

“कुछ कहें उन नैरा दीपों को सुधी,
प्रकृति-करुणा-कण कहेंगे हम उन्हें ॥



ओस के धे रत्न देखे हैं कभी ?
गोद भरते हैं सुमन जिनसे समी ।
हैं तुम्हारे लोचनों में भी वही,
विश्व के भांडार भर जावें अभी ॥



स्वाति-जल को सीप का मुँह खुल रहा,
और घातक भी उसी पर तुल रहा ।
पर तुम्हारे एक ही दृग-विन्दु से,
देख लो, मय लोक का मुँह धुल रहा ॥



“उमड़ कर जब प्रसु-परीं तक जायगा,
सुरसरी का रूप लेकर आयगा” ।
एक ही नम विमल दृग-जल-विन्दु में,
मुक्ति होगी, भव-जलधि लय पायगा ॥



हृदय का अभिवेक आँखों से करो,
राजराजेश्वर बनोगे हे नरो !”

प्रेमसुख-सन्निधि ।

सहे न रोना कर नये ले कुछ नये,
कुछ नये, नये रसो नये नये ।।



सह ले सौजन्य मीन-सुखी मे,
सोच नये हो नये-सोच मे नये मे ।
नये हो मे मे नये नये,
मे नये मे नये नये मे ।।



मे नये नये मे नये नये,
नये मे नये नये नये नये
मे नये नये मे नये नये मे
मे नये नये नये नये नये ।।

(नये)

॥०॥

चंचल चपलता से भरी जो चपल अतिशय मीन है ।
वह प्रेम-वश बिलकुल विचारी नीर के आधीन है ॥



जो कमल अपनी छटा में पा रहा था सुख नया ।
पल में विकल होकर वही रवि के पिना मुरझा गया ॥
घातक विचारा भी इसी जंजाल में जकड़ा हुआ ।
मग्न छोड़ कर केवल तनिक सीधे पर अकड़ा हुआ ॥



चौकड़ी सब भूल कर उन्मत्त होकर नाद में ।
प्राण देता है हिरन इस प्रेम ही के स्वाद में ॥
इस प्रेम के आगे बड़े बलवान भी मुकते रहे ।
जल पवन पावक इसी के तेज से रुकते रहे ॥



जो मानिनी आमोदमय मद में भदन के चूर थी ।
आर्धानता उसको किसी की कुछ नहीं मंजूर थी ॥
भूली हुई थी जगत को मन के निराले रंग में ।
मद से भरा मातंग भी उसके न था पासंग में ॥



छोड़ कर अभिमान को नव नागरी अब तो वही ।
प्रेम के बाजार में बे दाम बिलकुल बिक रही ॥

विकसित कुमुम ।

(कविवर पं० रूपनामयण पाण्डेय “कमलाकर”)

आओ ! कुमुम कमनीय !! आओ क्यों

पूछो नहीं मगाने दो ।

हुल विषिग्र ही रङ्ग दिग्गते

मन्द मन्द मुमुकाते हो ?



हम भी तो हुल सुनें किस लिये

इतना है उदास तुम्हें ?

घात घात में मिल मिल कर तुम

किसकी ऐसी उड़ाते हो ?



कैसी दया सगी यद् तुमको

क्षणिक विभव में भूलो मत

अमी सपेरा है हुल सोचो

अवसर व्यर्थ गँवाते हो ।



रूप रङ्ग रस जिस के बल पर

पैर न भू पर तुम रखते

रमिकों का शृंगार मंजूर है
यह जो मन में लाते हो ।

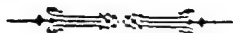
३३

रमिक और रमिकाएँ तुमको
छादर से ढपनावेगी
बना गले का हार रखेगा
यही मोघ इतराते हो ।

३४

तो इस पर भी तुम्हें फूलना
या इतराज प्रचित नहीं
धन्यवाद दो मुझ पर उसको
जिस्का रूप दिखाते हो ।

(सारंगी ।)



रसिकों का शृंगार सहज है
यह जो मन में लावे हो ।



रसिक और रसिकाएँ तुम्हको
आदर से अपनावेंगी
बना गले का हार रहूँगा
यही सोच इतरावे हो ।



तो इस पर भी तुम्हें फूलना
या इतराज उचित नहीं
घन्यवाद दो झुक कर उसको
जिसका रूप दिखाते हो ।

(सरस्वती ।)



है दम भर का दृश्य जगत में
क्यों इतना इतराते हो ?



मौरी रसिक पास आ आ कर
करता है प्रार्थना अगर
तो क्यों नहीं प्रेम से मिल कर
अपना वसे बनाते हो ।



मौरी काला है कुरुष है
हम हैं सुन्दर मत समझो
बस वसंत का है यह साथी
जिस के तुम कहलाते हो ।



कर अपमोग और सब तुम को
इधर उधर राग देते हैं
पर यह सिर घुनना है जब तुम
दंते मले कुम्हलाते हो ।



कोमल है कमनीय कलेवर
रेनों के मन भाषा है

प्रेम का अनुत व्यवहार !

अद्भुत प्रेम को व्यवहार !

प्रेम दिये नर परमेश होय पर ये निज अधिकार ॥

प्रेम लिये नहि विगमन कष्ट है दिये नाहि संहार ॥

प्रेमहि सो रवि मारी जगत है गुलन गुलन हजार ॥

पीन अलम, प्रेमहि को मागन, मंदी अपजयवार ॥

नभ सो मागन मिलन और नभ मागन मिलन अपार ॥

प्रेमहि सो पथर हू पिघलन बहति नदी नी धार ॥

सगल लोक प्रथिपी ये आवन प्रभी जान मुर द्वार ॥

प्रेम गीत गूँजन नभ, लारी प्रेम किरन मंगार ॥

प्रेमी यजुँ धेगि अथ प्यार प्रेम जगत को मार ॥

—कविता पं० जगन्नाथदासजी भगुंरी (मण्डीरा)



यह वायु चलती बेग से, ये देखिये लहर मुझे।
हे आप अपनी पत्तियों में हर्ष से जाते लुके।
क्यों शोर करती है नदी, हो भीत परावार में ?
वह जा रही वस ओर क्यों ? एकान्त सारी धार से ?
वह प्रेम है, वह प्रेम है वह प्रेम है, वह प्रेम है।



यह देखिये, अरविन्द में शिशुवृन्द कैसे मो रहे।
हैं नेत्र माता के इन्हे लम्ब तृप्त कैसे हो रहे
क्यों खेजना, मोना, रुदन करना, विह्वलना आदि सब
देना अपविमित हर्ष उमकों, देखी वह इन्हे जब ?
यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है।



हे वायु से यह बेल डिल्ली, वंज में फल हिल रहे,
हैं इन फलों के माथ हिलते, फूल कैसे मिन रहे।
सब एक होकर नाचने हैं, पक्षियों के गान पर।
कैसा प्रमोद मना रहे, समार सुखमय मान कर ॥
यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है।



वस दूरवनी संग में वे गाय कैसी बर रही,
वे बज्रदिया हैं दूर दूर कलोल कैसी कर रही।

इस नीम के नीचे पड़ा यह शशिदा है गा रहा ।
 वैसा यहाँ अपनी जगहों में मधुर तान सुना रहा ॥
 यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है ।



“गाते हुए हल जोतते, मनोंप सुग मे जो सने,
 वे खेतों हैं, आप अपने खेत के राजा बने ।
 हैं दीन, मे भी बड़ा हुआ, सौजन्य-भी-मन्वस है ।
 भूरे रहे मुद आप पर देते सबों को खस हैं ।”
 यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है ।



गल-भूमि का तो देखिये, ये वीर कैसे डट रहे ।
 कर ‘आत्मन्याग’ सदेश के हित खेत बन कर कट रहे,
 उन का पराक्रम, शौर्य अनुरूप होना, लोक में ।
 आह्लादकारी हर्ष में हों धैर्यदायी शोक में—
 यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है ।



इस प्रेम के ही हाथ से
 गरदन हजारों कट गई,
 हाँ, छातियाँ आघात के ही
 बिन हजारों फट गई ।



प्यारे कमल । ने हो ऐसे कठिन कहां क्यों ?
 पाकर विकाश पैसय भीतर मलिन रहो क्यों ?
 इस रूप रङ्ग पर हों फूले नहीं समाते ।
 सुनने न दूमेरे की अपनी नहीं सुनाते ॥

५३७

माना कि तुम हो अनुपम तुम मा न दूसरा है ।
 मौदर्य और रम भी हा अङ्ग में मरा है ॥
 लेकिन नहीं है जब तक उपभोग करने वाला ।
 तुम मा मधुर रसीला नागर नया निराला ॥

५३८

जब तक सभी वृथा है कुछ भा मजा नहीं है ।
 मध्याह्न मूम की उग्रा रक्ष्या दुई कटी है ॥
 बादल न हो तो बितली शोभा कहीं में पावे ?
 हे जौहरी न तो मणि आधा किसे दिखावे ?

५३९

हाँ हो अकोर को जो चाहन न चंद्रमा को
 तो कीज फिर बढ़ाये महिमा सूर्यदिमा की ?
 अगवा वसन का जो सरसङ्ग हो न जावे
 यदि कीज फिर लजा की क्षात्रिय दे बढ़ावे ?

हो निव सूर्य मे है इस पर नगर न भूतो
उनके विरासत वैभव को देख कर न भूतो
वैभव कमस्त उनका दिन भर नै कमस्त होगा
तब नन्द प्रेम से यह मधुकर ही व्यस्त होगा ।



"सिर सूर्य वो तुम्हारे नवतन के चार है इस,
जब तक बिने रहोगे अब तक रहेगा कुछ रस !
तब तक तुम्हारे ऊपर उनकी रहेंगे छाया
झोंके रात अब तब चल देंगे छोड़ जाया" ।



"मधुकर नगर रहेगा नाथी नश तुम्हारा ।
दे देगा उन भी पर होगा कमो न न्यारा" ।
"है दूर से तुम्हारी पा कर सुगंध जाया" ।
तुम से नगर न इतने आदर उरा भी पाया ॥
तब भी जहो ! तुम्हारे करण बड़ी बड़ाई
तुम को भी अब उचित है ऐसी नही छड़ाई



सुन कर बिनो निनो भी
रह सोच किस लिदे है !
चाहे जो बसको चाहे
संझोच किस लिदे है ! ।

— "सुनो सुनो" ।

(३)

हम जहाँ भी बिदा हो, सदा ही खाने से भर जायेंगे,
मातृ-भूमि की सेवा के लिए हमें भी, यह जानेंगे ।
मन, मन, धन सब हमें सब से सब भी, जानना सुझावेंगे,
विश्वभारत की भाँति सब से ही, यह सब समझावेंगे ।

(४)

मैं बिदा हो, मैं जानेंगा मैं ही जानेंगा सब लेने दे,
सब समझाना आस-पास पर सब सब मैं ही लेने दे ।
हमारे अपने अपने से सब भी मैं ही लेने दे,
मन सब से दिव्य भाव पर हमें सब सब लेने दे ॥

(५)

भक्त-भक्तानि मैं ही सब जानना विमल बनाने दे,
भक्त-भक्तानि मैं ही सब बिदा हो बिदा-भक्त विमलाने दे ।
नम नम सर्वत्र मैं ही पर ही सब सब विमलाने दे,
विश्वभारत ही धरा विजयिनी नभमलहत् पर उड़ने दे ॥

(दाखणोदर)





प्रेम ।

(कविवर गोपालशरणसिंह जी)

धन जाओ तुम प्रेम । हमारे मंजु गले का हार ।
 तन, धन, जीवन जो कुछ चाहो दें हम तुम पर हार ।
 तुम को पाकर क्यों न भला हम हो जावेंगे धन्य ?
 सच कहते हैं, तुम्हें मानते हम जीवन का सार ॥



जो जी में आये सो देना सदा रहेंगे तुष्ट ।
 माँगेंगे हम कभी न तुम से कोई भी उपहार ।
 जहाँ हमारे हृदय-धाम में हुआ तुम्हारा वास ;
 तहाँ शीघ्र हम हो जावेंगे निश्चय बन्ध बंधार ॥



मानम पट्टन विक्रमाने को तुम हो सूर्य-ममान ;
 जगें न करोगे हमें भला फिर हर्षोत्कृष्ट अपार ;
 मर्मी मंडुचित भाव हमारे कर दोगे तुम दूर ;
 कष्ट-ममान हमें विष होगा बह सारा संभार ॥

प्रेममय मिलन ।

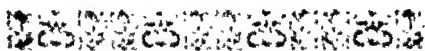
हैं पलक परदे बिचे बरुणी मधुर आवाज से ।
अश्रु-मुक्ता की लगी झालर खुले दग द्वार में ॥
चित्त-मन्दिर में अमल आलोक कैसा हो रहा !
पुतलियों प्रदग्ग बनो जो मौन्य हैं आकार में ॥



मुद-मृदङ्ग मनोहर म्बर में बज रहा है ताल में ।
कन्धना-बाँझा बर्ती हर एक अपने ताल में ॥
इन्द्रियों दामी सदरा अरनी भगद पर मजबूत हैं ।
मिल रहा 'गृहपति' सदरा यह शान्त प्राणधार में ॥

—भी जयशंकर प्रसाद (३१)





પ્રેમ-સતત્વ ।

જેટુ ન મગનૂ મોર દિગ, પોચ ને ને નામ ।
 દરદરના વો મેરૂ. સૌ, રીત દેરૂ વિચાર ॥૧॥
 અમયન અમયા પ્રેમ વો, પદિનું જેટુ હવાર ।
 મુન્દર મુન્દર તદ મીઠ વો, તથ જાગલોવો જાદ ॥૨॥
 અનુત મનિ થદ પ્રેમ વો મીનત વહી ન આવ ।
 દરસ મૂલ લાગે તમન મૂલદિ દેત મગાવ ॥૩॥
 પ્રેમ નગર મે તમ વચા મોયે પ્રમટે આદ ।
 દો મન વો વરિ તર મન માવ દેત ઠદરાદ ॥૪॥
 ન્યારો પેદો પ્રેમ વો સદસા ધરી ન વાવ ।
 મિત પે પેદે વાજત ચલો જાવ સૌ જાવ ॥૫॥
 અનુત મનિ થદિ પ્રેમ વો લચી સનદો આદ ।
 હુરે વહી, હુરે વહી વહી મોઠ વરિ જાદ ॥૬॥
 અનુત વાત સનદ વો મુનો સનદો આદ ।
 જાજો મુખિ આયે દિયે સપદો મુખ મુખ જાદ ॥૭॥

—“પ્રગતિ” .



मेक, सुख, शान्ति ।
१११

दूर हो जाय कभी वृद्धता भोग की,
आयना द्वारा होये दया-प्रीत की ॥

•

“मेरा का बीज अवेग भोले रहो :”
निराशेना बिभी का शरीर की ।
“हनु है हिन्दू के पुत्र हिन्दू धर्म”
“जै का पुत्र जानें मे पावे कभी” ॥

•

“गणेशनाथ की भक्ति जी मे धरे ;
मत्स्यप्रेमी बने, पैर पूरी धरे ।
प्रेम का प्रेमियों मे वसारा रहे ।
अधुधारा मिली प्रेम धारा रहे ।

•

एकता के सभी गीत गाते चले ;
प्रेम के रंग में मग्न गाते चले ।
मिद्धियों पै चढ़ो हो बढ़ाते चले ,
जोष की गो पताका बढ़ाते चले ॥

(दया, मत्स्य)



प्रेम !

क्यों पीड़ा देने को विधि में रखा प्रेम निधि है निर्मल ?
 क्यों बोगल घर के पिर क्यों बिदा बल्लहि पल बमल ?
 दूबे प्रथम जन्म-जन्म में तब मिलना प्रेम रत्न निर्मल,
 क्यों मृनु-पल पमना हसमें कर्ण कर्ण-लभ बेवल !
 प्रेम दूर से ही सुन्दर है दया पञ्चला लोक पवल ।
 मग्न में जो छति अनुपम है मग्न में है दीनान्त ॥
 जीवन-कालन में मरीचिका मोहमयी है नशा प्रवल ।
 क्यों ! क्यों जो प्रेम चाहता यह चाहता पवल में जल ॥
 बार प्रेम जो पान करेगा हाथ ! जान कर मुधा सरल ।
 बन विरहानल में पावेगा हमे क्षम-जल और गल ॥

—“नयन” (गगनगो)



न-पुष्पाञ्जलि ।

प्रेम अक्षय है, अमय है, प्रेम आदरणीय है ।
प्रेम योग, वियोग, तप, संयोग-फल कमनीय है ॥



शुद्ध सात्त्विक लोक-पावन प्रेम सच्चा है जहाँ ।
हाँ, वहाँ फिर स्वार्थपरता छल-कपट-कौशल वहाँ ॥
प्रेम-पथ के प्रिय पथिक संसार-द्वित करते रहें ।
मंकटों का सामना साहम सहित करते रहें ॥



प्रेम का थदला, नहीं संसार की सम्पत्ति है ।
प्रेम ही से प्रेम की होती अधिक प्रतिपत्ति है ॥
प्रेम-धन पाकर अकिञ्चन भी नुरी स्वार्थीन है ।
प्रेम-धन-वञ्चित पुन्दर हीन से भी हीन है ॥



मोम पत्थर को करे इस प्रेम में वह शक्ति है ।
शत्रु भी हो मित्र, जो कुद्व भावना की भक्ति है ॥
हो सके सम्भव असम्भव प्रेम-कार्य-कलाप से ।
हाँ, अयोग्य-सुयोग्य बनता प्रेम-पुण्य-प्रताप से ॥



पड़ प्रलोभन में अहो प्रेमी भटकते हैं नहीं ।
हाय हाय मचाय हरदम सिर पटकते हैं नहीं ॥

सब प्रकार विकार से बच कर भला करते रहें।
तत्परशी दुमरो के बाने मरने रहें ॥



धर्म ही मोन्दर्य है, मोन्दर्य ही बध लागे है।
दश-दुर्गम धर्म ही से प्राप्य पर्य भवयोगे है ॥
धर्म-हीन हय्य अहां रावमुच ठजाइ ममान है।
रम तिमिं दे नह। प्रयस्य वह रोजान है ॥



धर्म-गणितन ही बहुत 'अद्वैत' को है जानना।
रम का भमार में सर्वत्र मय में मानना ॥
दे न समद धित में हिमा प्रवृत्ति बनीयभी।
दे सम धर्म ही जगद विरंरा की चारणभी ॥



उम र बाधकार में बलदा नियम दूजा गया।
/ अदा परान्यता में गुण सुख लेया गया ॥
भीन रम भवज द्रिष का, ध्यात बाधी हाथ है।
'रम' न रम कर गदुद-प्रयत्न धनाव है ॥



उम र वन्दन बाध्या का, अतीविकर रम है
उम रम बाध का वन्दन मद-प्रयत्न कर है ॥

10

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥
 ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २ ॥
 ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३ ॥
 ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ४ ॥

1. $\frac{1}{2}$

विन्दु, ऐसे जिन अणु में प्रेम में शुद्ध स्वारस है ।
 पान लो, यह है धनिता, प्रेम में न प्रेम स्वार्थ है ॥
 दुषानशरीर पर भरोसा भूल कर बनना नहीं ।
 भवदहो है मित्र जागो, सुख ही भवना नहीं ॥

4

स्वार्थ-व्युत्पत्ति प्रेम इन्द्रिय-आलस्य ही पूर्ति है ।
 है स्वसत्तवी यह नाल, उसमें न बल न स्मृति है ॥
 आल है यह दमक-न्यायक स्वार्थियों का 'पाल' है ।
 पालुओं में बल न सकला, पर्योकि गोटाल गाल है ॥

25

प्रेम है सोना बरग, ताँबा तमोगुण का कला ।
मेल में यह 'मेल' होना है नहीं शिल्पुल भला ॥



प्रेम-बन्धन ।

प्रेम । तेरा साथ जो होता न जग में प्रति पड़ी ।
 किस तरह तो सहन करते—यातना इतनी कड़ी ?
 'हे अलभ्य पदार्थ तू ही मृष्टि में' यह जान कर ।
 मान करते हैं सभी तब पुण्यता पहचान कर ॥

॥३॥

वे रहा है तू हमें, सिखा अनोखी निज नई ।
 जो अभी मायेछ । हम से है नहीं जानी गई ॥
 तब दयामय दृष्टि से हम जन्म में पाले गये ।
 मोददा मा की मनोहर गोद में डाले गये ॥

॥४॥

पूज्य बलि, वस्त्री, पिता, मुल, शिष्य, गुरु, इनकी कथा ।
 जिस तरह बर्णन करे, जो प्रेम-मय है सर्रपा ॥
 बाल बूढ़ मुखा रंगे हैं, प्रेम ही के रक्त में ।
 दिन बिताने हर्य मे हैं, शिष्यवर्गों के मद्र में ॥

॥५॥

प्रेम ही से है लगा-नग नित्य कलनं कुलनं ।
 मन गज की धौनि, प्यारे साथ से है मूलनं ॥

[illegible]

41

2019 年 12 月 1 日 星期三
 2019 年 12 月 1 日 星期三
 2019 年 12 月 1 日 星期三
 2019 年 12 月 1 日 星期三

4 5

[illegible]

10

[illegible]

10

‘मेरा’ को जग मे ‘अमा’—बर नि दयाला रहि है ।
अमा नि उ विरह-दारा कमल बरला रहि है ॥



प्रेम ।

(कवि—बापू ब्रजनन्दन सराय “ब्रजवल्लभ”)

जो कल्पना, जो लालना, जो सोम, मोद विषार हैं,
मानव-हृदय के पीछे छुपते प्रेम के उद्गार हैं ।
है प्रेम जग का आदि कर्ता, नृष्टि का यह मार है,
है विश्व का पोषक, समर्थक ईश का आकार है ॥



नन्द भेष कायों का जगत में प्रेम ही उद्देश है,
नग्न, योग, जप, तप, ध्यान का यह प्रेम ही अवशेष है ।
आनन्द आध्यात्मिक अनुभूति का यही भाण्डार है,
यम धर्म कर्म पवित्र का यह प्रेम ही आधार है ॥



है प्रेम के आर्यान्त नभ में जगन्माता तारिका,
हैं बोलती वन में 'लगन' बरा कोकिला मुक्त सारिका ।
है प्रेम-सञ्ज्ञातन्त्र समीरण का विदित संसार में,
नभ में राशी, रवि भ्रमण करते शुद्ध प्रेम-प्रचार में ॥



कर भेद गिरिवर-गात्र को, भविष्यत अलौकिक टेक से,
जती जलधि को ओर नदियों प्रेम के छत्रक से ।

प्रेमानुभव ।

सँ जंग हो पतंग दीन के समीप जाय
 बारिज बँधाय रुझ दरद न मानई ।
 हुनि कै बिपंचो धुनि विरिख सँ हरंग
 मनों पति संग रहे दुन्य को न जानई ।
 मनों हीन छीन पनी, मोन बारि सों विहीन
 सँ कै मलीन अति दीनता दिवानई ।
 पावक मयूर मन मेइ के सनेइ जयो
 जायो लगे नेइ सोई देइ भले जानई ॥

—रसकुसुमाकर ।

प्रेम की शक्ति ।

मैं यह कहता हूँ कि दैत, और दिल यह कहता है सँमत ।
 झूठ कहता हूँ नहीं, और पैर कहते हैं कि चल ॥
 दोरा किस को है ? कहाँ जाता, छिपर आता हूँ मैं !
 एक शक्ती है जियर लीचे वयर जाता हूँ मैं ॥

—नामक ।

साहित्योदय, प्रयाग ।

कर्मधर्मं दास्येऽ ,

भयतु भवदर्थं मे मनः



त्वदीय वस्तु गोविन्द,

मुभ्यमेव समर्प्यते ।

मुद्रक.

वा० विरामभरनाथ भार्गव

स्टैण्डर्ड प्रेस, प्रयाग

संकेत का भासा के भेद का दर्शन करना निम्नो हो का
 वल है । ये सब के समे है । हृदय की बिजली से दृष्ट दृष्ट
 कल्पिते पुन है । भासा के रस की दिवस मरने है, संकीर्ण
 की मर है ।

नरसिंही—ये सब द्वारा सब की प्रकृति के परिचय देने
 का प्रयत्न किया है । इसकी सब में भी काम काम पर मिल
 निर प्रकाश से स्वयं भावों की पूजा की है और कल्पनी कीधी
 मारी मरस भासा में भांति भांति के दृष्टदृष्टों कथनों और
 हिलोहो की बया दियता है । पुनः का मुख्य उद्देश्य
 भावों के उद्देश्य, गहराई, मिठास और नदोपन की और है ।
 परमात्मा और प्रकृति, ब्रह्म और समाज सुदृष्टों और
 कामों का हृदय, भावप्रवर्तक और मानसमिलन यह इसके
 गूढ विषय है । हम सीताहंसि का है परन्तु रंग रसीन्द्र बाबू
 हो का नहीं है । जो लोग इसको ध्यान पूर्वक पढ़ेंगे उन्ही के
 हृदय धामपिक रूप और रंग का पता चलेंगा ।

यदि इसको छोटे छोटे संत निपथ नहीं है परन्तु ये उस
 पद की और प्रयत्न रीति से ध्यान सीखते हैं । अनुभवी लोग
 ज्ञान ज्ञान को देखकर यह भी कह सकते हैं कि इस लेखनी
 की सब किस रूप को पकड़ रहा है तर्हिटी के दूसरे
 उद्देश्यों में सब की गरिमा और सुखमा की और ध्यान
 कीजना भी है और भावों पर बर भद्र श्री के नगर में
 निपथों की फिर से नया करना भी है निपथों की उन्नति
 में साहित्य की बहुत उन्नति हो सकती है । आशा है कि यह
 हिन्दी-भाषा-संसार में और साहित्य सेवा समाज में अपना
 जीवन ज्ञान पावेंगे ।

अनुभव और आनन्द यही ही साहित्य के हस्तों धर्म है ।
 इन्हीं चीजों के पाठों के बीच में आकर बापि बनो रोता और

कभी हँसता है, शारदा के मल की झटल और झड़क पक होती है। इन्हों से माया में चल, खाता है, मायों में पड़ूँ बली है, लेखनी से रस टपकता है, स्वाही घटकीली हो जाती है। समालोचना का सीधा सादा यही एक निधम है। 'तरंगिणी' के तीर पर यदि किररी को कुछ ताज़ी, हवा लगी, दिल ठंडा हो, मुँ धिल उठे, पते की बात मिले, तो लेखक का धर्म बहुत पूरा सकल हुआ समझना चाहिये। यदि यह सलिल दिमाग के आकाश-स्पर्शी दिव्य शिखरों से संसार को पुनीत करता हुए न टपका हो, तो न सही, कुछ हानि नहीं, परन्तु यदि न संसार के झफ़ोरों से मुराये हुये, पाप ताप के प्रचंड मर्याद में बौटाये हुए बटोदियों के हरणों को कुछ भी हिला उठ सके, तो 'तरंगिणी' अपने आप को कृतकृत्य मानेगी, इसमें क्या संदेह है ?

शिवाचार पाण्डेय एम० ए०



मातः श्री,

आपने इस जगत-घाटिका की किस निष्पन्न-निजुल में मेरी
ज्योति-ज्योति सस्नेह की है ? मात नहीं आपने किस कुटीर
में मेरा भविष्य संहित कर दिया है ?

हुच समय पूर्व तक मैं उसी निर्जन एवं नीरस-निर्गोप में
निद्रित था। सहसा कहीं से पूर्व-भय का परिचय-प्रचारक-
मूर्धना से विकसित घेद्य-रस उठा, जिसके स्वर-सामझस्य
में एक अलौकिक दिव्य-शक्ति के दर्शन हुये ! यह शक्ति निःस-
न्देह है मातः, आपकी ही प्रति-भूति थी।

उस समय से मेरा काया-कल्प सा हो गया। उसी परमा-
राध्य देशों का प्रतिरूप चराचर में प्रतिबिम्बित समझ कर
मेरे पंच-भ्रातृ प्रपन्नता-पूरे-प्रसन्नता में परिणत हो गये। क्या
इसी प्रसाद को ज्योति-जीवन कहते हैं ?

आपका सरस-स्नेह तथा सरस स्वभाव मेरे हृद-हान-
हृद के जिस कठोर-कोर में विराजित हुआ, वहां ने अकथ-
नोर-आल्लाह के सुभग-स्रोत बहने लगे। आपके सत्य-दान
से पुष्टि और तुष्टि की चरम सीमा का पूर्णानुभव हो गया।
हर कमल की छाया से नाया-भय आघरण हटाकर आज
नितान्त-निर्मयता-निरत-निद्रा में जीवन-आवृत्ति ज्योतिर्मयी
कर रहा हूँ।

हे परम-गुरुये ! जब २ मैं आपका घबल प्याज इस दुनि
पर्यं दुर्लभ हृदय में करता हूँ, तब मेरी व्यक्तिता न जाने किस
प्रदेश को प्रयाण कर जाती है और यह आत्म-मित्र आप
किस सहज-सम्बन्ध-मूल में आपस हो मुक्ति मार्ग में बंधा
रहना है ?

रहना है ?
मैं नहीं कह सकता कि मेरा समय कदा तक सम्य है, क्योंकि
कभी २ जब आपके चरणारविन्दों को खपल बना कर
कँटीली केतकी सौहार्द रूप में कपटाच्छादित कर लेती है,
तब मेरा धित-धधुरीक उत्कण्ठित हो चिम्ता राग तथा विष-
विम्वय की तीक्ष्णता के कारण उनका मधुगान नहीं कर पाता,
किन्तु हे मन्द, चरमले ! मैंने सुना है कि हीन-मधुररस
पिणामाकुल हृदय आपको किसी न किसी प्रकार स्नेह निभ
करता ही पड़ता है । इसी आशा से कमल-रत्न-वग का लज्ज
इस समय-वर्ग में महा-पाप एवं गर्हणीय समझा गया है ।
अरे, क्या २ कह डाला, किन्तु कुल चिन्ता नहीं, बातों की
पेन्वी ही प्रकृति होती है । मेरा कबभाव तो भूलने का ही है ।
आप उपदेश दीजिये, क्योंकि आप शुद्ध हैं ।

हाँ, शुद्ध-भाव आपके करणों में न मान कर दिम दुःख में व्यापित किया जाये ? आपके कुरा कह्य-मह में मुझे केवल विवेक, मर्ति मदा शास्त्रि के मनु-मय कल व्यापित दुःख ही वाञ्छ-वृष्टि-कामिनी के ; कल कगडोपम धरण-मुनद ही प्रमेद-मोदकेन मुन-मनुर सुख हयत्र विर-मन्दन क'के कष्टिजा में दृष्टि गल हूये ।

चण्ड ! वाष्पावध-विनाश मे विविध विद्याय आगरे मे
 आज मे ही निन्दक-वध से पाया । मारलगा मर्त्य-लो-मर्त्य
 का आत्म-विन्दु मेरी मर-मरि मे पड़ कर उसे मु
 मिन्द-मर्त्य-मर्त्य-मर्त्य जाने लगा । वध, मेरी मुद

का पूर्व-पतन हो गया और तब से यह नञ्जुत-मानस-
नराल आपके पद-पद्मपञ्जर में साधित रूप से निवास कर
रहा है।

हे अन्व, क्या प्रणत-पुष्पाञ्जलि आपके चरणों पर चढ़ाने
के विचार से ये हाथ कलुषित हो गये, जो उन्हें पुनीत-पूजा
का अधिकार न मिल सका ? ठीक है, दासक के विचार चाहे
विरोधान्वित भी हों तथापि ये दृष्टे के अज्ञान-मय हृदय
के ही कदापि ! फिर अविश्वास और कष्ट को स्थान ही
कहाँ ?

ओ हा, इस कोनस-कनस-कलिका-कलित हृदासन पर
आपके चरण-सुगन्ध की शर्मा करता हुआ इस हस्तार-जीवन
की सतत-सेवा का अधिकारी बनाऊंगा।

हे जननि, अपने निर-चरण-अनुचर अधम दासक की
मुग्ध सेवा स्वीकार कीजिये।

"यद् तरङ्गिणी तदीय-हंसावली की विहार स्वर्णी हो" इस
परी आशीर्वाद दीजिये।

नातः सन्ध्याम् ! सन्ध्याम् !!

आपका स्नेह-भाजन

चरण-सेवा

दा. रामेश

दा.



३—जीवन-साफल्य एवं कर्तव्य पराधणत

गुद और सेना ...
 मैं कीन हूँ ?
 कूल बिल जाने दो ?
 सागर मर
 विरज और गुरु
 हाट की बाट
 क्राय का निरञ्जन
 देन, हट मन कर
 निजाल देने योग्य पुत्रादी
 बन्ध बनाए कर गैर दे
 नान्न ज्ञानी की राम कर्माती
 अब वदुचना दी आदित्य ? ..
 अब, अब दूगा

४—यान्न-कान्न ।

बाब गिरान्न
 बाबद की डिशई
 लम्बा पर नुमा
 खरीद बाबद ..

५—मित्र-विनोद ।

अन्धमन
 क्या वे दिन गए हैं ?
 उतारन
 उतार, देन का अगस्त्य दूध
 अब अन्ध अगस्त्य
 अब, अब विनोद ?

६—स्वदेश और समाज ।

मेरा जन्म उस देश में हो !	१०१
सोच-सुधार में साम-सुधार	१०२
मुक्त वीर	१०४
क्या मुझे इती सिधे धिक्कारते हो ?	१०५
सुरक्षावा हुक्का फूल	१०७
नौद बे भोदो	१०८
धिक्कार	११०
स्वदेश-संदेश	१११

७—मानस-मिलन ।

जोड़ जल-पोत	११४
कान्तिम-प्रणाम	११५
पुष्पावलि	११७

अभिवन्दन ।

हे विश्वेश्वर ! हे कदणाकर ! हे मेरे परमस्थामी !

आज,

मेरी रति और भक्ति-पूर्ण प्रणाम,
स्वीकार करते ।

मेरे,

अज्ञ प्रपन्न तेरे अभिमुख अवनत हो रहे हैं ;
तेरी अलौकिक भूर्ति इक्षुप्य हो रही है

और,

इस 'तरङ्गिणी' का प्रवाह,
रवि-तनया यमुना की समान, तेरे
पवित्र चरणों

के स्वर्ग करने के अर्थ क्षण प्रतिक्षण बढ़ रहा है
हे अक्षयुत ।

मेरा गयोधन मल्लक अनन्तकाल पर्यन्त तेरे आर्यों
पर अवनत रहे

और

यह मन-मराल सदा ही तेरी

भक्ति-तरङ्गिणी

के तट पर निवास करता रहे ।

य काम देती है और मेरा अधीर हृदय धार २ हृदय पर
भी यह गीत गाने लगता है कि, 'मैं तेरा झूठा हूँ !'

जब मैं हरित-धान्य-सम्पन्न मनोहारी रोतों की ओर देखता
हूँ, मृग-गामिनी केति-किलोत करती व इठलाती हुई नदी का
धन २ रस सुनता हूँ, जब मैं अधखिली कुसुमकला के स्निग्ध
कोमल का परिचुम्बन करना हूँ, जब निःस्वार्थ वात्सल्य मेरी
गोद में आकर तालियां बजाता हुआ तोतरे बचन बोलता है,
जब प्रसाधार प्रियमित्र का करकमल स्पर्श कर हृत्पानन्द में
निम्न हो जाता हूँ, तब संसार की दृष्टि में धनी बनने की
इच्छा रखने वाले भी चिला कर यह उड़ता है कि, 'मैं तेरा
झूठा हूँ'

मैं नन हो नन परतन्त्रता के कारण सन्नापित होता हूँ,
किन्तु इस उन्न-परम्परा-प्राप्त झूठ चुकाने की कोई चेष्टा
नहीं करता । धनोपार्जन करते २ सारा जीवन व्यतीत
हो गया, पर झूठ न चुकाने से किंचिन्मात्र नज्जिन नहीं
होना ।

अब मेरे प्रेम ! आज से मेरा यही संकल्प है कि तेरा झूठ
श्वेत चुका दूंगा, पर तुल्लते उझर न दूंगा ।

क्यों नहीं, 'मैं तेरा झूठा हूँ, तेरा झूठा हूँ' यही कहते २
उझर हो जाऊंगा !

क्या तुम वही हो ?

ॐ ! जब तू जानने के रम्योद्यान से हंस्तता हुआ
गंदे उद्धातता चपल चाल से चला आ रहा
था, उस समय मैं एक दीन बन्धी, तेरी
अनैतिक दृष्टि पर मुग्ध हो गया । तब
बन्धनों को तोड़ कर, सोलुप-धनर को नाई, मैं तेरे मुख कमल
के पगल पान करने को परमेश्वर हो कर दौड़ा, पर दृप्त
हृदय में निरुत्तर कर, तू मुझ से और और दूर भागने लगा
और दर बेलि-विनोद दिखाना हुआ हस्त भर में इन दर्श-
वर्त्मनेषों को झोट में ले गया !

मे, मशहों ने सातमी और नीच प्रवृत्तिपाला, तेरा अनु-
सरण न कर मशा । एक कर एक, हृष्यादार गुप्त के नीचे बैठ
गया, जिसे लोग 'आकाश-घट' कहते थे । तेरी साधन-मयी
हृदय कर भी आँखों में झूलती थीं । मैं न विचार लिया, कि
इस तू जिनेला, तब तेरे हस्त से भागने का तुम्हें मूर्ख उराहना
होगा हुआ मजिद्वर कर के गुना । आँख बंदने लगे और विरह-
वर्धित दंत शिथिल हो गये । आँखें भरती हुआ धरती पर
पड़े गया ।

घोटे हो कर मे विन्नी ने दोहरे से मेरे शरीर कथ-साधित
मेरे बीच लिये । सदा क्या ही सुखानत और शीतल हस्ता
पा ! शिखर में से और कर उर कर कमलों का सताहर करने
हो भूतना पूर्वक । यत्न कर क्या । बार है रे !

जो घर तो दरी मेरे उद्धातते-पाना हस्त है !

मन मे भी धारें कि हो चार साधन पान होइ ह, पर इन
साधनों आँखों ने हमसे रहित है, मेरे विरहोपर साधन-वर्धित
मेरे हस्त पर । तब मैं साधन भर साधन और साधन मे साधन मे

हे नमस्कार ! तुम्हें ऐसी स्मरणशक्ति प्रदान कर, जिससे
तुम्हें पानर भी न भूलें और अपने निश्चय के प्रत्येक कार्य
के दिन-बेदिन साधों से न रहें ।

तुम्हें यह आशीर्वाद चाहिये कि 'मैं तेरा हूँ और तू मेरा
है।' इस नरे निश्चय, सब से बड़ा धर्म, जिस पर मैं तुम से
प्यार करता चाहता हूँ, यह है, कि तू तुम्हें अपना निश्चय
पर निश्चय प्रेम से ही और यह प्रेम तेरे प्रेम ही से लिये हो !

५.५.५

क्या मुझे भूल गये ?



मुझे भूल गये गये ? मैं यही हूँ जो अनन्त
आकाश में जगत् की निरन्तर वास्तविकताओं
का निराधार भवन निर्मित कर खड़ा
कर देता हूँ। प्रेमियों के आँसुओं की
बूँदों में अपने हृदय पर मैं भर कर
उत्तरी पवित्र धारा से वास्तव-प्रद को
अनिमित्त करके उत्तम जगत् लता
स्थापित कर देता हूँ। इस भवन में उभय

पक्ष का नाश-विश्व सिंहा रहता है और विश्व व्यापी जीवन
का स्वरूप अनुभव यही पर होता है ।

मैं तुम्हें ही तुम्हें मैं कोनता, नदनी में स्निग्धता,
मौलिक में कोनता, वात-हृत् में नदुरता, मेघ में उप-
लब्ध और प्रकृति में मनोहरता अनिन्दित हुई है। राग में
स्व-ताना-स्व-जगत् में विविध स्वरूप तथा प्रेमियों में
नदुरता मेरा ही निगूढ़ आदर्श है। लक्षण-विशेष का अन्ते-
कर्म, निरन्तर में अनिन्दित, मुक्ति में स्वयं सब भाग का अन्ति-
म नरे सरल वास्तविकता है ।

पूरा सङ्कल्प ।



जिह्वा-काष्ठ से मैं निरन्तर तेरा प्रति-
पन्न नाम तुम्हा । मेरे कर-कमल-निर्मित-
मङ्गलमय कर्णों तुम्हें अंगूठी में उदित कर
तुम्हा । उल अंगूठी का बहुमूल्य स्वर्ण तुम्हें
जैसे जेवरों पर रहने के कारण मलिन हो
गया है । मेरी अंगुलीय पहिले बहुत ही निर्मल
थी, पर उत्तम अञ्जन वरु मेरी वक्रक दन्तक के
अच्छ ठेक बड़े सुन्दराने, जितने उत्तम बैदना

का मैं कर रहा । किन्तु, आज तेरे नाम कभी नम लड़ने से
जहाँ का मुने हो लड़ने और उल पर निरन्तर का प्रकाश
रहने लगे ।

हे गुरुदेव आज से मैं अपनी योग में तेरा पुनः प्राप्त
होता । अङ्गुलि-एवं-द्वैता के अलोल गोलों को मोड़
कर मैं योग के मर हूँ जहाँ से और मेरा मधुर-स्वर काँकने
लगा है । इसी कारण नदरला में विज्ञान हो गये । किन्तु
आगे काष्ठ उदित एवं बारी विचार-विलासिनी हो
गयी । मेरे मन के मयल्लों को आरोही-अवरोही कथुरेश
को मैं अभिमान हो लड़ने । योग का सुख-अनन्तर से
मैं अङ्गुलि उदित हो मुने वरु व मयल्लों को अभि-
मान होला और वे अलोल मणि रोह कर मेरा विराट मयल्ल
होने ।

हे गुरुदेव आज से मैं मेरे दक्षिण-वामों का ध्यान
करता । एक ओर गुरुदेव और दूसरे का दुर्दिन लड़ने से
मैं अङ्गुलि उदित हो गये हैं । निरन्तर आज बहुत ही

क्या अब भी कुछ बाकी है ?



नाथ ! क्या तक तरमाओगे ! प्रार्थना करते करते आँखें मिचने लगी और अंतःकरण शिथिल पड़ गये ।

इस अनोखे राग की सैर करते-करे चक गये । भौरा का गुंजार बक रहा । विकशित और संपुटित दोनों ही प्रकाश की पुष्प-कलियाँ झड़-झड़ कर गिरने लगीं ।

कुछ जल तो डालो मैं लगे ही सूख गये और कुछ सूख कर नीचे गिर पड़े । गरम हवा के चलने से हरी हरी लताएँ मुसमाकर पीली पड़ गईं । कोयल के मधुर आलाप के बरने उलूक का रोम-हर्षण शब्द सुनाई पड़ता है । निरुत्साह और निरानन्द में हृदय काँपता है । शाय, यही पल भर भी श्वासे को जी नहीं पाहता ।

रात दिन हिलने मिलने वाले प्रिय मित्रों ने अचानक ही मुझे हथियारे की नाई इस गूने मंझहर में छोड़ दिया । स्वर्णित के नीरव वाक्य वागों में शरीर क्षिप्त मित्र हो गइ । पश्यान्नाय की मीनलमूर्ति गामने लड़ी होकर डरवाने लगी । प्रकृति ने मूलक-मस्कार का काला वस्त्र धारण कर लिया । शाय 'मित्र' पर दुर्धामनाओं के जलों का वज्र-प्रहार हो रहा है !

तब प्रभो मण्ड्या के रक्त विरगे वादल लल-मंगुला में विसीन हो गये । अब, रात भर के क्रिये वाली घटा पलक होने लगी । घट करणें मुझ पापी का कर्मकी दुल दीन करने के मर ने अन्त-पुर में क्षिप्त रही । इस मरपहर समझा के समान मूलगान मैदान में अकेला में ही रह गया ! क्या हो चुं...

निकुंज शृंगार ।

जिस ओर आँख उठाता हूँ, निराशा का अन्धकार ही
अन्धकार दिखाई देता है। हाँ, केवल तेरे मिलने की उत्कण्ठा
का एक ध्रुवतारा ही उत्तर दिशा में जुगजुगा रहा है।

हे प्रेम प्यारे ! आज न मेरा कोई, न मैं किसी का ।
नाते और सम्बन्ध सब हो धूल में मिल गये । सदस्यों यातनायें
भोग कर, अब तुम्हारे द्वार पर आ उठा ! इस दीन के मिलने
में क्या विलम्ब करते हो ? या अब भी कुछ रंग दिखाने को
चाकी है ?

निकुंज-शृंगार ।



ज स्यौंदय के पहिले ही प्रेम-निवास की
केलि-कुञ्ज में बड़ी उत्कण्ठा से पहुँच
गया । इस विचार से गया था, कि
यहां आप के विहार का गिरा हुआ
हार घ फूलों का गुच्छा मिल जाय
और मैं उसे बड़ी भक्ति-पूर्वक धार
कर लूंगा । मैंने इधर उधर बहुत देख
पर चरणों के आभूषण के एक फूल
छोड़ कर कुछ भी न मिला, क्योंकि प्रेमीजन पुष्प-शृङ्गार
पहुँचने के पहिले ही ले गये थे । अनेक प्रकार के फूल तोड़
मैंने एक माता बनाई और पाँच के एक मुमके में उस फूल
लटका दिया ।

उस फूल माता के धारण करने से मेरी शोभा चौ
मिलने सह हीन मिथुन को बड़ा ही अति

तू मेरा भिखारी है ।



राज राजेश्वर ! तू मेरे द्वार का भिखारू है !
मैं दिन भर कठिन परिश्रम करते २ एक २
कौड़ी से खपना भएडार भरुंगा, और
सन्ध्या समय तेरी भौली में सब हो
प्रलभता पूर्वक उड़ेस दूंगा ।

जब तू अपनी एक फिरण के तेज से
समुद्र को मरुभूमि बना देगा, तथा दिवा-
कर के प्रचण्ड प्रताप को अवता रात्रि के
कटाह से पराजित कर के मेरे द्वार पर चेतावनी के वैराग्य
पूर्ण गान गायेगा, न शीघ्र उठ कर तेरा आतिथ्य-सत्कार
करुंगा । उस समय, जो तू मांगेगा, मैं सहर्ष भेंट कर दूंगा ।

हे विश्वम्भर जिस मन की सज्जट करने में सांत्ना-
रिक्-जन सदैव दत्तचित्त रहते हैं जिसमें कामना के उष
नान्न बनाना हा परम कर्तव्य समझते हैं और जिसकी
रूप-भंगुन दीवाल पर विविध प्रकार के चित्र लिरा करते हैं,
उस स्वर्गीय गृह को मैं पल भर में तेरे लिये एक टूटी फूटी
भोपड़ी की नाइ गाला कर दूंगा

हे जगन्नाथज जय तू वाल रघि रश्मियो का रगा हुआ
कनाय घख धारत वि य कृपा कटाह का दण्ड लिय प्रभुति
पात्र में निज्ञा लने को आवेगा तब मैं तेरे चरण-कमल अधु-
जल से धोकर हृदय पद्मानन पर तेरी अप्रतिम यात-मूर्ति
विराजित करुंगा । हे विगतकल्मष ! मैं बड़े ही प्रेम से तेरा
पात्र अपनी आत्मा से भर दूंगा ।

मैं बेहतर-रूप में गिर कर चाहे छोर चिहाना हूँ, लोग हँसते हैं और तानियाँ बजाते हैं ! परन्तु हे प्रभो ! उस समय एक नू हो मेरा हाथ पकड़ कर बाहर निकालता है । मैं तेरी दया को भस् कर फिर प्रमत्त हो जाता हूँ और मेरे साथ रहने में पान सुख मानता हूँ । नो, मैं किम प्रकार तेरा नाँव देने के योग्य हूँ ?

हे अनायास ! मैं तेरा सेवक भी नहीं बन सकता, क्योंकि नून महानिमानों का भस्त्व तेरे चरणों पर बनी नहीं मुकता और एह अनिय शरीर तेरी सेवा न करने में ही सुख मान रहा है ।

हे विनम्र ! नू मेरे साथ चाहे हो सदन्य माने, पर मैं मेरे साथ कोई नाता नहीं मान सकता । हाँ, मुझे इतना करने में हो गर्व है, कि नू मेरा 'सर्वस्व' है और मैं तेरा योग्य हूँ ।

हे विनम्र ! मेरा मेरे साथ सगे में सगा नाता यही हो सकता है कि "नू प्रेम है ! एक मात्र प्रेम है !! मेरा प्राण-धन देय्य प्रेम है" !!!

जैसे पर निर्भर नहीं है। यह सारी प्रवृत्ति ही तेरे
मनो में प्रतीक है। तेरी शिक्षा सैली मनोहारिणी एवं
संयोजक है। तू ने प्रत्येक विषय का साक्षात्कार ही नहीं
करा, बहुत उसका अनुसन्धान करके उसमें अपनी प्रेम-शक्ति
का संगम कर दिया है।

ये सबोंके उपदेश यही है कि तूने निजता में समि-
प्य-प्रवृत्ति में पूर्णतया जीवन-मरण में सुखि प्रचलित
करा है।

~ ~ ~

कृपा-कथा ।

मनो ! यह तेरी कृपा ही तो है, जो नित्य अनन्त
प्रकारों को दिन-निदिन करता हुआ प्रभाव का
प्रकाश मेरे अश्वत्थ गृह को आलोक पूर्ण कर
रहा है और शतशत-समर के झोंके तेरे धूप में पतना रहने
मिथान में पला हुआ कर चने जाते हैं।

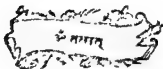
जब अदभुत गान्धारी नदी देखकर विषय-प्रवृत्ति नेत्र
में पड़ जाते हैं जब जब धूप में धके हुए जंग मैदान की
निलीला में लहरों में झेला हो जाते हैं जब स्वतंत्रता-प्रिय
विचारों का अनुभव सुनकर नगीत का दृष्ट भाव प्रगट
होता है और जब जब मैं नगी-कुछ में बैठ कर शरद-यामिनी
के प्रजन दृष्ट दिखाव देता हूँ जब तूने मेरी कृपा का पूर्ण
अनुभव हो जाता है

हे कृपा-कथा ! तूने न केवल मेरी शक्ति, यद्यपि मैं सुखि
प्रवृत्ति में हुआ हूँ मैं अनेक बार विषय-मुरार में बैठा हूँ।



टोकनी के मुहों भर फूल उन पद-गङ्गाओं पर स्नेह-पूर्यक मलजानु
 एवं अवनत-शिर होकर चढ़ा हुआ ।

हे देवाधिदेव ! हम प्रेमोन्मत्त 'हरि' की पुष्पाञ्जलि स्वी-
 कृत कर ले, जिसमें कि इसका पवित्रम सफल हो, और तेरे
 चरणों में रत्ति और प्रेम उत्तरोत्तर बढ़े ।



साहित्योदय की विनास-विज्ञप्ति ।

ग्रन्थ-जाति का सदा जीवन उत्तम साहित्य ही है।
ऐसा नवीन को वास्तव में प्रकाशित करने वाली अपनी
मदनाम ही रही जा सकती है। नाव-भाषा में सर्वोच्च-
मार्ग को जान देना ही सच्चे साहित्य का उद्देश्य है। ऐसे
साहित्य से ही देश के कल्याण की छाया की जा सकती है।
अंततः ही और ध्यान देकर हमने केवल साहित्य-सेवा के
विचार से 'साहित्योदय-ग्रन्थ-माला' प्रकाशित करना प्रारम्भ
किया है, जिसका पहला पुष्प आप महाशुभाशु के कर-कर्मों
में है। इसे पढ़ कर यदि आप लोग साहित्य-दर्शन के
बाद ही साथ आत्मतन्त्र-उद्यम में कुछ भी शक्ति-दान
करेंगे, तो हम अपने परिश्रम को सफल समझेंगे। हम
इच्छा पूर्वक इसके बाद दो और ग्रन्थ-रत्न प्रकाशित करेंगे,
जिनके नाम 'शान्ति-सोपान' और 'धर्मराय' हैं।

शान्ति-सोपान—लेखक प० हरिप्रसाद द्विवेदी। इसमें
विचार, भौतिक और आध्यात्मिक विकास, वैदिक धर्म, साधना,
इन्द्रिय, नैतिक और आध्यात्मिक विकास, इन्द्रिय विषय
में है। तन्त्र-विषय में अत्यन्त ही आनन्द तथा सदा
संयम इसमें प्राप्त है। अतः यह ग्रन्थ विचारणीय है। इसमें
गुरु विषयों की भी व्याख्या है। अतः यह ग्रन्थ और
मुक्ति-सौख्य द्वारा अत्यन्त ही आनन्द प्राप्त करने वाला ग्रन्थ है।
पर्याप्त तन्त्र-विचारों के साथ ही अत्यन्त ही आनन्द है। अतः
यह पुस्तक 'विचार दर्शन' और 'आध्यात्म' का धर्म में
रखनी जा सकती है। अतः यह ग्रन्थ साहित्य पुस्तक

प्राकृत्यन

“प्रेम रंज को फूँक कर, तनहुँ मोह भय भ्रान्ति ।
दना-दया-दन्तोष-भय, देनाही सुभ शान्ति ॥”

प्रेमी पाठकगण :

मैं अपनी ‘प्रेमोपहारमाला’ का एक नव-विकसित कुसुम आप लोगों की सेवा में भेज रहा हूँ ।

शान्तिरस के सुन्दर सौरभ का सञ्चार करने वाले बहुत से सुमन हिन्दी-साहित्याद्यान में रिले हुए हैं । उनकी सुगन्ध दूर दूर देशों तक फैली हुई है । और, उनके पुण्यदर्शनों ने बहुत से भारतवासियों का जीवन पवित्र किया है । किन्तु, आजकल की युक्ति-प्रिय समाज की उन पुष्पों की ओर, रुचि नहीं । जूँची से जूँची बात को बीसवीं शताब्दी के लोग अपनी कुशाग्र-बुद्धि की तीक्ष्ण तलवार से काट छाट कर धूल में मिला देते हैं ।

आचार-शास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों में किसी को तर्क करने को अधिक जगह नहीं तथापि, यदि कोई उनको वैज्ञानिक आधार पर रखा दे तो वह सशय की दोष-पूर्ण वायु से सुरक्षित हो जायेंगे । इस ग्रंथ के लेखक हमारे परम मित्र गुलाबराय जी ने कर्तव्य-शास्त्र-सम्बन्धी अटल सिद्धान्तों को वैज्ञानिक तन्तुओं में जकड़ कर और भी सुदृढ़ बनाने का यत्न किया है । इस पुस्तक में न किसी नवीन मत का उपदेश दिया गया है और न इसके ग्रंथकार अपनी पुस्तक की पूर्णता का दावा करते हैं । इस पुस्तक में प्राचीन परम्परा से प्राप्त उपदेशों को, वैज्ञानिक व्यवस्था से, दुहराने की चेष्टा की गई है ।

द्वितीय संस्करण

पत्नी

भूमिका

उत्पत्ति-लेखनाद्योग में शान्ति-धर्म मेरा स्व से पद
दुस्साहस पूर्ण उद्योग है। इसको पहले सत्यरत्न ।

निकाले हुए दो वर्षों बाद गये। इसी बीच में, कुछ विशेष सा-
क्षरता के कारण, अर्जुन सम्बन्धी दो चार ग्रन्थ मेरे पढ़ने
में आये। सबसे अधिक यह कि उन पाठित ग्रन्थों के आधार पर
छोटी सी पुस्तक का आकर पढ़ा दिया जाता। किन्तु मैं
यह उचित न समझता था कि नये ग्रन्थों के पढ़ने से मैं
मानसिक स्थिति में कुछ विशेष परिवर्तन नहीं हो सका। दूस-
रे एक बड़ा कारण जो कि मैं यह यह कि मैं अपनी पढ़ने
पुस्तक का पूरा पूरा न हो सकना पसन्द करता हूँ। नवी-
यारी का नाम है कि जो कि मैं अपने प्रथम उत्थापन के
समय में पढ़ने के लिए लेता था वह मैं नहीं उठा सकता
हूँ। मैंने इससे अधिक पढ़ने के लिए आकाशवाणी पर अनिवार्य
संज्ञा धन के लिए लेना था। मैंने अपने मन में इसे भेजा
हूँ। इससे मैंने अपने मन में इसे भेजा हूँ। मैंने अपने मन में
प्राप्त करने के लिए लेना था। मैंने अपने मन में इसे भेजा हूँ।

उत्तो ज्ञात में कोई महारथ, अपनी खरटाधार बग्यों में, हवाखाने जारहे होंगे। कहीं मिश्री के आगमन से संयोग-सुख हो रहा होगा और कहीं विप्लव का दारुण दुःख। कहीं अभीष्ट-प्राप्ति के कारण किन्हीं मनुष्य का हृदय, हर्ष के नारे फूटा नहीं समाता होगा और कहीं कोई विचारा असफल-अनोरथ मनुष्य, तिरनोत्रे किये हुए, दैव की निर्दयता के ऊपर, विचार कर रहा होगा। इन क्रिया-वैविध्यों का कुछ भी हृद नहीं।

[illegible]

चेतन-वृष्टि भर दी क्रियाओं का साधारण है। संसार में इस से बहुत दूर लोग वेदों का अन्वेषण नहीं करते ।

[illegible]

यह आजाती है तब उस का स्वागत करना कठिन होता है। दूरस्थ पर्वतों की भाँति, मृत्यु की घाती दूर ही से प्रिय मालूम होती है। किन्तु, निकट आने पर, वह भयंकर हो जाती है। मरते समय, यदि किसी से पूछा जाय कि, तुम और दो चार दिन जीवित रहना पसन्द करोगे : तो ऐसा कोई घिरला ही होगा जो इस प्रश्न के उत्तर में—'ना'— कह सके।

आदर्मी, केवल दो हालतों में मरना पसन्द करता है। या तो, जब वह यह देखता है कि संसार में उसका मुँह दिखलाने की जगह नहीं, अथवा जब कि धर्म और देश का हित, उसके प्राणों की आहुति दिये बिना, सधता नहीं मालूम देता। इन दोनों अवस्थाओं में से, कोई भी साधारण नहीं है। प्रथम दशा में तो, मनुष्य अपने का संसार के लिये, मरा हुआ समझता है। संसार उसके रहने के योग्य नहीं होता। एक तरह से, उसकी मृत्यु ही हो जाती है। वह सोचना है कि मेरी क्रांति रूपी असली आत्मा तो उठ ही गई किन्तु इस भौतिक शरीर का धारण करने ही से क्या इसकी स्थिति में कुछ भी अथ निति नहीं होने की। दूसरी स्थिति में वह यह समझता है कि, उसकी सच्ची स्थिति, उसके धर्म और देश का स्थिति में रह सकती है। वह अपनी आत्मा का अपने देश और धर्म से एकीभाव कर लेता है। उसके विचार में ऐसा स्थिति है कि मेरे मर जाने से मेरी मृत्यु आत्मा जीवित रह सकती है। मरना ही धर्म है, दोनों ही दशाओं में मनुष्य अपने सच्चे स्थिति का चाहता हुआ, आत्म रहित नहीं होना चाहता। मरने का पसन्द देता है। ऐसी अवस्था में ही वह इस दुनियाँ में रहते हैं कि इस आहुति के लिये, वे प्रयत्न कर सकते हैं उनका स्वरूप

तब मैं निकल पड़ता हूँ। धर्मात्मा लोग आत्म-रक्षा ही के लिये, धार्मिक कर्मों में अपनी दृढ़-प्रवृत्ति कराते हैं। किन्तु, समाज में खेर का काम करनेवाले बहाराया जाता है, और, धर्मात्मा लोगों के काम की प्रशंसा की जाती है। इसका कारण यह है कि, दोनों के आत्म-रक्षा के विचार में, अन्तर है। खेर आत्म-रक्षा की उचित सोचा का उल्लंघन कर जाता है, और उसके आत्मा विनयक विचार भी लंबे तथा पक्के नहीं होते किन्तु धर्मात्मा लोग अपनी आत्म-रक्षा करते हुए, दूसरों की आत्मरक्षा में सहायता देते हैं।

जिन प्रकार लोगों के आत्म-सम्बन्धी विचार अलग-अलग हैं, उनकी भाँति आत्म-रक्षा के साधनों में भी भेद है। जो लोग, अपनी आत्मा को दुर्गति की सोचा में, संकुचित नहीं करते; वे अपनी आत्म-रक्षा के निमित्त, ऐसे-ऐसे साधन ढूँढ़ते हैं, जिनसे किसी व्यक्ति को किसी प्रकार का हानि न पहुँचे, और जो संगत सन्तोषपूर्णता के मन का अवलम्बन करते हैं। वे अपने देश के मानने लोगों का हित मुख्य समझते हैं। आत्मरक्षा में वे आत्म-रक्षा के ही प्रकार से नहीं होती। जिस प्रकार दूसरे लोगों के आत्म-रक्षा करती है उसी प्रकार से सिद्ध नहीं करना करना मरने का दुःख अपना अपना है।

हमारा मरने का अपना एक ही है आत्मरक्षा सब ही चाहते हैं। परन्तु अपने-अपने प्रवृत्ति और योग्यता के अनुसार हम अपना रक्षा के मरने अच्छे-अच्छे साधनों का, काम में लाते हैं। कुछ का मरने के द्वारा अपनी रक्षा करते हैं, और कुछ आत्मरक्षा के द्वारा साधनों के भेद से आत्मरक्षा में जीते-मरने का एक साधन कुछ दूसरी साम्यनदी। अपनी रक्षा का अपना साधन-विवरण पढ़िए।

संघर्ष-युक्त आत्मरक्षा

साङ्गुत चानन वेदा प्रणिगतो विवर्तनम् ।
 दंति दर्थन मारा व नतनी पुहु' प्रवर्तते ॥
 तत्र यो वनवाध कृष्य जित्वा भोऽस्ति तदाभिषम् ।
 एवमेव मनुष्येषु विरोधो नास्ति करचम ॥

महाभारते

रणरक्ताभिषिक्ताना भक्ताभ्योऽपि समुद्यमः ॥

—'संमेन्द्र'

आत्मरक्षा—प्रकृति का पहला नियम है । किन्तु,

इस नियम के पालन होने में बहुत सा संघर्षण
 एवं क्षय भी होता है । प्रायः सभी जीव-धारियों का जीवन की
 स्थिति के लिये संघर्षण करना पड़ता है । विशेष कर वनस्पति
 और पशु-संसार में, संघर्षण ही द्वारा आत्मरक्षा होती है ।
 मनुष्यों का जीवन भी लड़ाई और झगड़े से खाली नहीं है ।
 बड़े बड़े पौधों की प्राण-पुष्टि के लिये छोटे-० पौधे उखाड़ डाले
 जाते हैं । बिना छोटे जीवों के नाश हुए, हिंसक पशुओं का
 जीवन रहना भी, नितान्त असम्भव हो जावेगा । यदि सिंह की
 दृष्टि से देखा जाये तो मनुष्य और पशु समुदाय उसकी उदर-
 पूर्ति ही के अर्थ रचे गये हैं । जय की मान्य जातियों में झगड़ा
 खड़ा होता है, तब एक जाति दूसरी जाति की मत्ता को बिल्कुल
 मिटा देना ही अपना परम धर्म समझती है । कुछ लोगों का

पर विचारत था कि मनुष्यों की संख्या, साधु पदार्थों की प्रशंसा, अधिक बढ़ती है। इस कारण, मनुष्य-जाति में भी संवर्धन और नाश परमावरणक है। भाग्यवश, नव-जाति विश्व ने इस कृत्यता को निर्मूलत साधित कर दिया है। तथापि, पशुओं की तरह मनुष्यों में, ज्ञान के लड़ाई-झगड़े, चले ही जाते हैं। इस संसार में केवल साधु पदार्थ ही तो झगड़े की बुनियाद नहीं। दुर्बल का कहीं कुछ टिकना नहीं। न तो दुर्बल पर ही संसार में जीवित रहने के योग्य समझे जाते हैं, और न निर्दल जातियाँ ही, दलवान जातियों के सामने, ठहर सकती हैं। जिन पशुओं का नाश हो जाता है, उनके लिये तो दल पक्षी कहते हैं कि वे संसार में जीवित रहने के योग्य न थे। वे कहते हैं कि इन संसार के अनुकूल न बना सके इसलिए उनकी यह संसार छोड़ना पड़ा। कवि, वृन्द कहते हैं कि—

—हे मनुष्यक लक्षण की कोई न विशेषता है।

लक्षण ही नहीं है जो के शरीर में हुआ है।

समस्त प्राणियों में से मनुष्य के मानस शक्ति की बुनियाद, सबसे बड़ी है। अन्य पशुओं का ज्ञान कल की समझता से कुछ भी नहीं है। इस मनुष्य मानस नहीं जाते सही, परन्तु यह ज्ञान ही है जो वे सहज पशुओं में जादुवि तो दन ही जाते हैं। मानस की बुद्धि में से प्रवेष्टात्मक और द्वेष्ट-द्वेष-बुद्धि की मनुष्य ज्ञान में सम्मिलित रहने से ही वे मानस हो, एक मानस की मानस बुद्धि का ही वे मानस की विविध प्रशंसा की हातियों पशुजान का कल कल मनुष्य का एक जाति के मानस ही, इतने मानस का मानस बुद्धि का ही कल कल नहीं होता। एक मानस का मानस का कल कल नहीं देख सकता। घर

आत्मरक्षा का एक साधन मात्र है। यह साधन जानवरों के लिये आवश्यक है, क्योंकि वे विचार-शून्य हैं। न तो उन की आत्मरक्षा ही उन के सिद्ध विचारों का फल है और न हत्या ही के लिये उनके पास कोई प्रमाण है। वे सब कार्य अपने स्वभाव से ही करते हैं। वे अपने साधनों में परिवर्तन नहीं कर सकते। इसी लिये वे दोष के भागी नहीं हैं।

हम लोग विचारवान् हैं। हम प्रकृति के नियमों का पालन करते हैं। किन्तु, हम पशुओं की भाँति उन से अनभिज्ञ नहीं। हम अपने जीवन के नियमों को जानते हैं। हमारे ज्ञान ही के कारण, हमारा उत्तरदायित्व बड़ा हुआ है। संघर्षण के अतिरिक्त, उन्नति के और और साधन वर्तमान होते हुए, हम यदि उन को काम में न लायें, तो हम अवश्यमेव दोषी ठहराये जायेंगे। यदि हम साधन और लक्ष्य में भेद न करें, तो हम अवश्य मूर्ख कहाये जाने के योग्य बन जाते हैं। हम को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि, आत्मरक्षा हमारा लक्ष्य है और इसके साधन में, संघर्षण पथ का अवलम्बन कर, हम साधन के मोह में लक्ष्य के विरोधी न बन जायें। यदि हम आत्मरक्षा के पक्षपाती हैं, तो हमको ऐसा करना चाहिये कि, और नियमों का सुगम पथ पालन कर सकें। यदि संघर्षण पथों की आत्मरक्षा में विरोध पड़ा है तो इसके पक्ष में उन्नति का साधन है।

अब हमारा लक्ष्य है यही काम
। में ही संभव है बड़े जीव केवल
। हुए नहीं कर सकते दाँट का अपना

साम्य-मयी आत्म-रक्षा

“मात्मानं सर्वभूतेषु बः पर्यति न पर्यति”

Man is undoubtedly 'the paragon of animals,' the highest link in a vast chain, but it is a chain in which one and the same right to live belongs to all

-JAMES WARD

इस संसार का प्रवाह उन्नति की ओर बह रहा है। हम सब को इस प्रवाह के साथ बहना पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी शक्ति के अनुकूल इस संसार की उन्नति में योग देते हैं किन्तु, इस उन्नति के साथ साथ सब भी बहुत होता है। क्या हम संसार की उन्नति में सहारा देते हुए भी इस संघर्ष-अन्य-क्षय को कम कर सकते हैं ?

आत्म-रक्षा का नियम प्राणी मात्र के साथ लगा हुआ है। छोटे छोटे कीड़ों का जीवन, हमारे लिये चाहे तुच्छ क्यों न हो, किन्तु उनके लिये यही अमूल्य है। जो अधिकार, एक मनुष्य को, जीवित रहने के लिये प्राप्त है, वही अधिकार तुच्छाति-तुच्छ कीड़ को भी।

क्या संघर्ष के नियम की भी इतनी ही व्याप्ति है ? क्या संघर्ष अनिवार्य है ? नहीं, नहीं। संघर्ष आत्मरक्षा के ही हेतु होता है। संघर्ष हमारा परम पुरुषार्थ नहीं बन

10

11

12

रिना से ही विद्या और व्यवसाय की वृद्धि होती है। जो प्रति-
द्वन्द्विता के कारण, अपने व्यवसाय वालों का हित नहीं चाहता,
यह अपने हित के विरुद्ध करता है। उन्नति सदा प्रेम और सह-
कारिता की अनुसूचिनी होती है। हम संघर्षण द्वारा, जीवन-
संग्राम में, विजय नहीं पा सकते। यह विजय ही किस काम
की, जिसके, बाद भी संग्राम घना ही रहे? संघर्षण से जो
विजय-प्राप्ति होती है, यह चिरस्थायिनी नहीं होती। क्योंकि,
उस में द्वेष की जड़ का नाश नहीं हुआ रहता। अतः पुनः समय
पा कर अंगुर देने लग जाती है। संसार में चिरस्थायिनी शान्ति
तभी स्थापित हो सकती है जब मनुष्य मात्र में समता के भाव
उत्पन्न हो जायें। अन्तर्जातीय प्रश्नों में जब धर्म और कर्तव्य-
शास्त्र के सिद्धान्त लगाये जायें तभी यह आशा की जा सकती
है कि मनुष्य जाति का युद्ध के हत्या-काण्ड से निवृत्ति मिलेगी।
अब स्वार्थ पूर्ण अर्थ-शास्त्र का समय नहीं। अब निस्वार्थ धर्म
की आवश्यकता है। हम यदि किसी जाति को अपने अधीन
घनाना चाहते हैं, तो हम उसमें, अपनी जाति के उच्चतम भाव
पैदा करने का यत्न करें। जहाँ भावों की एकता हो, वहाँ फिर
कोई भी भेद न रह जायगा। जो नियम जाति के लिये है, वही
नियम त्यक्तियों के लिये भी घट जायेगा। किसी देश पर राज-
नैतिक अधिकार हो जमा लेना, उसका जीत लेना नहीं है। राज-
नैतिक अधिकार का सिद्धा जमाये बिना भी, हम किसी जाति
पर अपना मानसिक अधिकार जमा सकते हैं। हिन्दू राजाओं
का अधिकार भारतवर्ष से उठ गया। किन्तु हिन्दू धर्म का
साम्राज्य अभी तक वर्तमान है। धर्म का साम्राज्य सटल है।
इस साम्राज्य के स्थापित करने वालों को किसी कौड़ की ज़रू-

रत नहीं होती । बौद्ध महाराज ने सांसारिक राज्य की कुछ भी परवाह नहीं की । किन्तु, उन का स्थापित किया हुआ साम्राज्य लगभग आधी दुनिया में वर्तमान है । विचारे ईसामसीह के पास कौन सी कीज़ थी ? किन्तु, अपनी दया और नम्रता के बल से उन्होंने ने सारे यूरोप को धर में कर लिया । सिकन्दर का स्थापित किया हुआ साम्राज्य नामावशेष है किन्तु, उसके गुरु Aristotle (अरस्तू) का अधिकार अभी तक सारे संसार में वर्तमान है । दया, ज्ञान और प्रेम का साम्राज्य हत्या के रुधिर से दूषित नहीं है । अतएव, सत्य तथा शान्ति की ध्वजा, घर घर में, स्थापित करने का यत्न करना चाहिये ।

“उग्रति निमिल्लं जीया, धम्मं गैव कमादिह ।

विदधानाः सावधाना, समन्ते परमपद्मम् ॥”



शान्तिधर्म

एतद्गुं सर्वान्दि भूतान्प्राप्तमन्देवानुपपत्ति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विदुमुपमते ॥

Self love but serves the virtuous mind to wake,
As the small pebble stirs the peaceful lake,
The centre moved, a circle straight succeeds
Another still, and still another spreads;
Friend, parent, neighbour, first it will embrace
His country next, and next the human race.
Wide and more wide, th' o'erflowings of the mind
Take every creature in, of every kind.

—POPE.

साम्य—मयी ज्ञातम-रक्षा को शान्ति-धर्म कहते हैं

अर्थात्, जिस ज्ञातमरक्षा में, अपनी ज्ञातम-रक्षा के साथ, अपने से भिन्न रक्षि और स्वार्थ के रखने वाले मनुष्य, तथा अन्य जीवधारियों को भी रक्षा होती रहे। हम यह नहीं चाहते कि हमारे चारों ओर कोई मनुष्य अपनी मुख्यता या विशेषता को छेड़ दे अनेकता ही में एकता स्थापित करने को साम्य कहते हैं। 'Unity against Diversity' अनेकता का रहना भी इतना ही आवश्यक है, जितना कि एकता का, क्योंकि, बिना भिन्नत्व के हमको ससार में रहना कठिन हो जायगा। ससार की जो कुछ सुन्दरता है, वह भिन्नत्व ही के कारण है।

शान्तिधर्म

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्देवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विदुष्यते ॥

Self-love but serves the virtuous mind to wake,
As the small pebble stirs the peaceful lake.
The centre moved, a circle straight succeeds
Another still, and still another spreads;
Friend, parent, neighbour, first it will embrace
His country next, and next the human race.
Wide and more wide, th' o'erflowings of the mind
Take every creature in, of every kind.

—POPE.

साम्य-मयी आत्म-रक्षा को शान्ति-धर्म कहते हैं अर्थात्, जिस आत्मरक्षा में, अपनी आत्म-रक्षा के साथ, अपने से भिन्न दृष्टि और स्वार्थ के रखने वाले मनुष्य, या अन्य जीवधारियों को भी रक्षा होती रहे। हम यह नहीं चाहते कि हमारे कारण कोई मनुष्य अपनी मुख्यता या विशेषता को छोड़ दे। अनेकता ही में एकता स्थापित करने को साम्य कहते हैं "Uniformity amidst Diversity." अनेकता का रहना भी इतना ही आवश्यक है, जितना कि एकता का, क्योंकि, बिना भिन्नत्व के हमको संसार में रहना कठिन हो जायगा। संसार की जो कुछ सुन्दरता है, वह भिन्नत्व ही के कारण है।

शान्तिधर्म के अंग ।

—:८:—

हम सुखी हरि भजन कोनक रसम बसोव ।

भुजनी, बरहुं न हारिदे बला-दीन बसोव ।

"नमो भगवते वासुदेवाय । नमो भगवते वासुदेवाय ।"

“शान्तिधर्म” को नवीन धर्म नहीं । समस्त के
 सारे धर्म वेदा शान्ति और शान्ति ही का
 मनुष्यो देते हैं । जो और नून धर्मों के अंग हैं, वे ही शान्ति-
 धर्म के भी हैं । इन धर्मों में शान्ति का ही बड़ा भाग है । शान्ति
 कि हमारी निवासों का नाम हमारे विचार और संस्कारों से
 होता है । हमारे अन्तरिम एक और भी बड़ा है । वह यह है
 कि शान्तिधर्म सामान्य से सम्बन्ध रखता है । और, शान्ति
 हमारे हमारे का संबंध नहीं हो सकता कि हमारी नवीन शान्ति
 विमल है । वह यह हमारे हमारी शान्ति ही शान्ति नवीन
 नवीन हमारे नवीन यह शान्ति शान्ति है । शान्ति के उद्देश्य होने
 का सम्बन्ध हमारे हमारे शान्ति और शान्ति शान्ति नवीन
 कि शान्ति । इन सब शान्तिधर्मों का शान्ति शान्ति है । शान्ति,
 शान्ति का शान्ति । शान्ति शान्ति है । शान्ति, शान्ति शान्ति
 शान्ति है । शान्ति शान्ति है । शान्ति शान्ति है । शान्ति शान्ति है ।
 शान्ति शान्ति है । शान्ति शान्ति है । शान्ति शान्ति है । शान्ति शान्ति है ।
 शान्ति शान्ति है । शान्ति शान्ति है । शान्ति शान्ति है । शान्ति शान्ति है ।
 शान्ति शान्ति है । शान्ति शान्ति है । शान्ति शान्ति है । शान्ति शान्ति है ।

SHANTI-DHARMA.

सुख और शान्ति गरीबी में है यह अमोरी में नहीं। गरीब ही लोग सन्तोष और प्रेम का आनन्द अनुभव कर सकते हैं। सच्ची अमोरी धन की अधिकता से नहीं प्राप्त होती: धन, चित्त की उदारता से। फ़ारसी में कहा हुआ है कि—“तबद्वरी व दिलस्त न बमाल।” चित्त को उदार बनाने का यत्न करना चाहिये। फ़ैरी अमोरी से शान्ति नहीं मिल सकती।

बाइबिल में लिखा है कि—“सुई के नाके में से अंठ का जाना सहज है किन्तु अमीर आदमी का खुदा की यादशाहत में दाखिल होना कठिन है।” गरीबी के साथ साथ ज्ञान और संतोष लगा हुआ है, तो गरीबी का होना बुरा नहीं। धन्य हैं निर्धन लोग जो स्वयं सताये जाने पर भी दूसरों को नहीं सताते।

संसार की एकता का ज्ञान जैसा गरीब आदमियों को होता है—वैसा अमीर आदमियों को नहीं। संसार की एकता जानने के लिये यह आवश्यक नहीं कि हम एक साथ ही निर्धन बन जायें। अमीर होते हुए भी हम गरीबी का भाव धारण कर सकते हैं। हम सब को गरीब आदमियों की भाँति नष्ट बनना चाहिये। गरीब आदमी हमारे आदर के योग्य हैं। क्योंकि वे अपने जीवन से सन्तोष आदि सद्गुणों का उपदेष्टा देते रहते हैं। उनके जीवन से हमको शिक्षा मिलती है कि सचरित्र मनुष्य बनने के लिये धन की आवश्यकता नहीं। आत्मा की उन्नति का बाहरी ढाढ़ से कुछ सम्बन्ध नहीं। संसार जिनको बड़ा आदमी कहता है उनके अनिरिक और भी बड़े आदमी हैं, जिनकी आत्मा हमारी आत्मा से कई दर्जें ऊँची है। गरीब और अमीर सब ही में एकही आत्मा हो रहा है। इसलिये सब

सुख और शान्ति गरीबी में है वह अमीरी में नहीं। गरीब ही लोग सन्तोष और प्रेम का आनन्द अनुभव कर सकते हैं। सच्ची अमीरी धन की अधिकता से नहीं प्राप्त होती; धन, चित्त की उदारता से। फारसी में कहा हुआ है कि—“तबदारी व दिलस्त न बमाल।” चित्त को उदार बनाने का यत्न करना चाहिये। गरीबी अमीरी से शान्ति नहीं मिल सकती।

बाइबिल में लिखा है कि—“सुई के नाके में से ऊंट का जाना सहज है किन्तु अमीर आदमी का खुदा की यादशाहत में दाखिल होना कठिन है।” गरीबी के साथ साथ ज्ञान और संतोष लगा हुआ है, तो गरीबी का होना बुरा नहीं। धन्य हैं निर्धन लोग जो स्वयं सताये जाने पर भी दूसरों को नहीं सताते।

संसार की एकता का ज्ञान जैसा गरीब आदमियों को होता है—वैसा अमीर आदमियों को नहीं। संसार की एकता जानने के लिये यह आवश्यक नहीं कि हम एक साथ ही निर्धन बन जायें। अमीर होते हुए भी हम गरीबी का भाव धारण कर सकते हैं। हम सब को गरीब आदमियों की भाँति नम्र बनना चाहिये। गरीब आदमी हमारे आदर के योग्य हैं। क्योंकि वे अपने जीवन से सन्तोष आदि सद्गुणों का उपदेश देते रहते हैं। उनके जीवन से हमको शिक्षा मिलती है कि सच्चरित्र मनुष्य बनने के लिये धन की आवश्यकता नहीं। आत्मा की उन्नता का यादरी ठाट से कुछ सम्बन्ध नहीं। संसार जिनको पड़ा आदमी कहता है उनके अतिरिक्त और भी बड़े आदमी हैं, जिनकी आत्मा हमारी आत्मा से कई दर्जें ऊँची है। गरीब और अमीर सब ही में एकही आत्मा का विश्वास हो रहा है। इसलिये सब

अब समझे—बिना विचार के यूँ—कभी न निकालें। हमको
जिसे शब्द तो पोलने ही चाहिये, उसके साथ साथ, हमको
ह भी ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है कि हम उन शब्दों को
सो ध्यान में तो नहीं करते, जिससे कि हम दूसरे के ऊपर
पना अनधिकार आधिपत्य जमाते हों। विचारने की बात
कि—

“कामा काको धन हरे, कोपल काको देत ।

मीठो बोलो बोल कर, जग अपना कर लेत ॥”

हिंसात्मक विचारों से सदा बचते रहना चाहिये, क्योंकि, न
ने यह विचार कब क्रिया में परिणत हो जाये। जिस बात को
विचारते हैं, यह कभी न कभी हमारी जिहा पर आ ही
ती है। और, फिर उसके कारण हमें दुःख का दुःसह भार
जाना और बोना पड़ता है।

हिंसा से केवल दूसरों का ही नाश नहीं होता, परन्तु अपना
। हम दूसरे के शरीर का हनन करते हैं—यस यही हिंसा
। परन्तु हिंसा द्वारा हम अपनी अन्तरात्मा का हनन कर
ते हैं। हिंसक लोग संसार में अशान्ति के बीज बो देते हैं
र, कभी कभी, स्वयं ही, अपने लगाये हुए वृक्ष का कटु
त चखते हैं।

अहिंसा के साथ साथ, क्षमा भी परमावश्यक है। बहुत से
ग ऐसे हैं, जो स्वयं हिंसा नहीं करते। किन्तु, हिंसा के
यदले हिंसा करने के लिये सहज ही में तैयार हो जाते हैं।
प्रति-हिंसा से भी, द्वेष के बीज बोये जाते हैं। संघर्षणयुक्त
साधनों से स्वप्न में भी शान्ति नहीं मिलती। समाशील—
सहिष्णु—बनने की बड़ी आवश्यकता है। क्षमा रूपं तपस्वि-

SHANTI-DHARMA.

हम को ऐसा कामा चाहिये कि, हम ही सर्वदा सर्वथ दूसरों को ही कामा करने दें, और कामा भूय कर भी ऐसा हमपर करने लगे 'न जाने' दें कि हम को भी किसी दूसरे के समान कामाधी की रूप में कामा की भोग में लगी पड़े। यदि हम सर्वश्रेष्ठ को सेवाने की चेष्टा करने हैं तो हम को यह भी जानना है कि, शत्रुओं सुयोग्यता द्वारा तथा अपने सङ्ख्यापक्ष के सहारे दूसरों में श्रेष्ठता प्रदर्शित होने में रोके। तब तो 'शान्ति-धर्म' का निरन्तर प्रचार बढ़ता जाता सम्भव है। इन्हीं कामाओं का अत्यन्त करने से शान्ति का विलोपन भली प्रकार से हो सकता है। इनके लिये--'श्री' और 'सन्तोष' की बढ़ी ही आवश्यकता है। शीलवान् दूसरों का सब से ऐसा सङ्ख्यापक्ष रहा करना है कि उनसे कोई भी उदासीन, उनका श्रेष्ठ प्रति-कूल नहीं रह सकता। वे सबके प्रिय बन आते हैं। नम्रता के लगे सब अक्ष निष्कल हो जाते हैं। 'सर्व शीलवान् जितः'। हम शत्रुओं नम्रता से केवल करने को ही कामा नहीं पहुँचाते, परन्तु दूसरों को भी केवल में भूल होने में बचाते हैं। हम को अपनी नम्रता, चाली और व्यवहार दोनों ही में दिखानी चाहिये।

मोटे बदन से जो सुख और सन्तुष्टि का लान होता है वह किसी सुधारक से सनी हुई निजार्थ से भी सम्भव नहीं है। यह ऐसी निजार्थ है जिसका निजान किसी तरह की हानि नहीं करता। कामा की वृत्ति इसी निजार्थ से हो सकती है। सत्य-वृत्ति की वृत्ति इसी स्वाद से उपजती है। हिन और प्रिय-वादिषों के विरोधित गंत्यानी तुलनादान ने मधुमादय के विषय में कैसा अच्छा कहा है।

‘तुलसी मोटे बदन से’ सुख उदभव वहुँ मोर।

उद्वेगदय सब सब है उद्वेगदय सब मोर।”

रहती है। असन्तोष ही एक भारी विप्लवाश्रय है जो शान्ति के स्थापित होने में सबसे पहले आ गयी होती है। असन्तोषी की सारी अभिलाषायें कभी पूरी नहीं हो सकती। क्योंकि संसार में और लोग भी तो ऐसे अनेक पड़े हैं, जिनमें लोभ की सैल लहर घटाने पड़ती है। जो कृष्ण की तरंग तरंग में तले-ऊपर होकर दृष्ट रहें हैं, उनकी मूर्ति कभी हो नहीं सकती। वे आज्ञाश्रय आश्रय दुःखी रहेंगे—यह धर्मसिद्धान्त—यह अष्टांग परम्परा—प्रतिपक्ष प्रमाणित होती है, किन्तु तब भी हम कृष्ण-ज्ञान से बाहर होना नहीं चाहते।

असन्तोषी मनुष्य स्वयम् भी दुःखी रहता है और दूसरों को भी दुःखी बनाये रहता है। उसके द्वारा बहुतों को कष्ट पचता है। किन्तु, सन्तोषी मनुष्य अपने भी सुखी रहता है, और दूसरों को भी सुख-शान्तिपूर्ण रहता है। असन्तोषी मनुष्य यम-यातना की मूर्ति है और सन्तोषी मनुष्य की स्वर्गीय-प्रतिमा, पूजनीय होती हुई सुख-शान्ति-विस्तारिणी है। कामनाओं का कलेवर छुड़ाने से पीड़ा एवं क्लेश की रूढ़ि होती है। और सन्तोष ही केवल सुखशान्ति का कारण और अशान्ति का अन्तक है। एक महात्मा की वाणी है कि—

‘धर्मा सुखी नही मोघ बिनु मुष्ट निधन सुखजान ।

नृप सुख हित पथि पथि मरे मन मुनि मोर महान ॥”

सन्तोष के साथ और और सद्गुणों की यथेष्ट वृद्धि करने का यत्न करना चाहिये। शान्ति मय जीवन के लिये हमको यह आवश्यक है कि हम सब के साथ भेद-भाव छोड़ कर अभिन्न हृदय से मिलें जुलें। किसी की यड़ाई व सम्पत्ति देव

मन को सच्ची राह पर ले जाना श्रेयस्कर है। उसे सात्त्विक रूप देने की आवश्यकता है। हमको अपना स्वाभाविक सन्मार्ग निर्माण करना चाहिये। हमें अपने को ऐसे साँचे में ढालना चाहिये कि, बिना प्रयास के ही हम से अच्छे अच्छे कामों का धाँगणेश होने लगे। बिना किसी तरह के परिश्रम के ही, स्वाभाविक रीति से, हमारी सत्कार्य में दृढ़ प्रवृत्ति होने लगे। यह बात अभ्यास बिना सिद्ध नहीं हो सकता।

हम अपने कर्मों से ही ऊँचे अथवा नीचे पद को पाते हैं। हमारे स्वभाव और संकल्प से हमारे कर्म बनते हैं। हमको अपने स्वभाव और संकल्पों के संशोधन का यत्न करना चाहिये। सच्चरित्र सज्जन सारे संसार को लाभ पहुँचा सकते हैं। जो सच्चरित्र नहीं है उनसे शान्ति का प्रसार नहीं हो सकता, केवल सुख का हास ही होगा। शान्ति का पाठ अभ्यस्त करने वालों को सच्चरित्र बनने की लगन लगानी चाहिए। यदि हम बुरे हैं तो केवल अपने ही को बुरा नहीं बनाते परन्तु सारे संसार में बुराई के बीज बोते हैं। हम अपनी अच्छाई से सारे संसार को अच्छा बनाते हैं और बुरे होकर संसार का अनिष्ट साधन करते हैं। जब तक हम अपनी मानसिक और शारीरिक शक्तियों का उचित व्यवहार करना नहीं सीखेंगे तब तक हम से किसी का कुछ भी उपकार नहीं हो सकता।

हमारे कार्यों का परिणाम यही दूर तक पहुँचता है। इसलिये जो कुछ हम करें, उसे सोच विचार कर करें। हमारे काम हम ही तक रह जाते तो इसकी हानि होने की सम्भावना नहीं, किन्तु हमारी कार्योंवाली का प्रभाव सारी समाज पर पड़ता है। इसीलिये, हमारा उत्तरदायित्व बहुत ही बड़ा है।

दम्भ, इत्यादि अशुभों को अपने हृदय से बाहर करें। जय व, सन्ती शान्ति और सद्ब्रह्मचार द्वारा दूसरे लोगों में से भी इन उच्छृंखल अशुभों का समूह नाश करने का उपाय करें। प्रत्येक जांबवातों को सद्गुणप्राप्ति और सच्ची शक्तियों के यथोचित विस्तार में सहायता दें। हम सब लोगों का यही प्रमुख उद्देश्य होना चाहिये कि, संसार में संघर्ष, हिंसा और प्रतिहिंसा को दूर करने में, एक दूसरे की सहायता कर, इस गुण कार्य में योग दान दें। हम लोगों को अपनी सब शक्तियों को एक ओर केंद्रित कर ऐसा यत्न करना चाहिये कि, 'विद्यम्रेण' के विस्तार से 'आत्मीयता' के प्रचरड मार्चरड को प्रसर किरणों का इतना प्रसार हो जाय कि, संसार से निन्दकर्मों और वृषालद विचारों के दाहल विद्रु निद्रु हो जाय, और चारों ओर शान्ति की प्रेननयी मूर्ति दिखाई पड़ने लगे और सदा सान्ध की सुचनयी सुधाधारा का अनवरत प्रवाह संसार को पक्षिबित कर संघर्ष और द्वेष की दहकती हुई अग्नि को शान्त कर दे।

इसी प्रकार शान्ति देवी का निर्वाण-निडुड निर्वाण करके संसार में सुख-वसुध को निमन्त्रित किया जा सकता है। इस प्रकार विद्यसेवा द्वारा मनुष्य विरज्जाल को स्थापित कर के अपना मानव-जीवन सफल करे।

“युननस्तु सर्वजगतान् सर्वो भद्राणि परयतु।

तौकाः सनस्ताः सुखिनो भवतु

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

